वैदिक
आर्य सभ्यता
COMPILED

वैदिक आर्य सभ्यता

दानवीर स्वर्गीय

श्रीमान् सेठ शूरजी भाई वल्लभ दास जी, बम्बई निवासी

द्वारा प्रकाशित वैदिक सम्पत्ति के

लेखक :—

अक्षर विज्ञान, सम्पादक, साहित्य भूषण,

स्व० श्री पं० रघुनन्दन जी शर्मा

प्रकाशक :—

सार्वदेशिक प्रकाशन लिमिटेड,

पटौदी हाउस, दरियागंज, दिल्ली—७

मुद्रक:—

सार्वदेशिक प्रेस, दरियागंज दिल्ली—७

द्वितीयवार ५००० | दयानन्दाब्द १३० | वसन्तपंचमी सम्वत् २०११ | प्रचारार्थ मूल्य ।-)।

॥ ओ३म् ॥

प्रकाशकीय वक्तव्य

आर्य जगत की अपनी ही सुप्रसिद्ध संस्था सार्वदेशिक प्रकाशन लिमिटेड दिल्ली ने केवल १६ वर्ष में छोटी बड़ी चार लाख पुस्तकें प्रकाशित करके आर्य समाज के इतिहास में एक महान् घटना उपस्थित की है। सत्यार्थप्रकाश, महर्षि दयानन्द सरस्वती (जीवन) गोकरुणानिधि, आर्याभिविनय, व्यवहारभानु प्रजापालन (महर्षि के ४ पत्र) संस्कार विधिः तथा दैनिकयज्ञ प्रकाश आदि ग्रंथ अत्यन्त सस्ते मूल्य में प्रकाशित करके वेद प्रचार के कार्य में महत्वपूर्ण योग दिया है। इसका श्रेय केवल प्रकाशन को ही नहीं अपितु आर्य जगत के उन आर्य सज्जनों को है जो प्रत्येक प्रकाशित पुस्तक समय २ पर भारी संख्या में मंगाकर प्रचार करने में तत्पर रहते हैं ऐसे आर्य महानुभाव बधाई के पात्र हैं।

प्रस्तुत पुस्तक वैदिक विद्वान् स्वर्गीय श्री पं० रघुनन्दन जी शर्मा कृत उस महान् ग्रंथ वैदिक सम्पत्ति का एक महत्वपूर्ण भाग है जिसे बम्बई निवासी सुप्रसिद्ध आर्य, दानवीर स्व० सेठ शूरजी भाई वल्लभदास जी ने निज व्यय से लोकोपकारार्थ प्रकाशित करके पुण्यलाभ किया था, इस महान ग्रंथ के अब तक कई संस्करण छप चुके हैं। स्वर्गीय सेठ जी के सुपुत्र माननीय श्री सेठ प्रतापसिंह जी भी इस ग्रन्थ के प्रचार का भारी प्रयत्न करते रहते हैं, मेरी भी हार्दिक इच्छा है कि भारत ही नहीं विश्व के प्रत्येक घर में इस उत्तम ग्रन्थ का स्वाध्याय होना चाहिए।

परन्तु ऐसे उत्तम ग्रन्थ से जिसमें अनेक गम्भीर विषयों पर मनन पूर्वक विचार दिये हैं विराट होने के कारण साधारण जनता उतना लाभ प्राप्त नहीं कर सकी जितना करना चाहिए। अतः यह अनुभव करते हुए कि इस उच्च ग्रंथ की ओर सर्व साधारण की रुचि उत्पन्न हो– इसका यह छोटा सा भाग आर्य सभ्यता नामक आपकी सेवा में प्रस्तुत किया है। आप अनुभव कर सकते हैं कि १८० पृष्ठ के इस ग्रंथ को २५) सैंकड़ा में देकर प्रकाशन ने साहित्य जगत् में भारी क्रान्ति की है। अनेक आर्य बन्धु तो प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का अत्यन्त सस्ता मूल्य देखकर आश्चर्य करते हुए कहते हैं कि आर्यसमाज की संस्था ने तो गीता प्रेस गोरखपुर से भी सस्ता साहित्य देना आरम्भ कर दिया है। हर्ष है कि यह ६ मास में ही दूसरी बार छप रही है।

जिस प्रकार भी हो सकेगा आर्य जगत् के सहयोग से ही इसी प्रकार की सस्ती पुस्तकें और पत्रिकाएं देते रहने का हमारा संकल्प है भवदीय—

बसन्त २०११]

ओमप्रकाश हरनामदास प्रकाशनाध्यक्ष

ओ३म्

वैदिक आर्य सभ्यता

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष आर्यों की सभ्यता की आधारशिलाएं हैं। इनमें मनुष्य की वे समस्त अभिलाषाएं अन्तर्भूत हो जाती हैं, जिनका उल्लेख हमने वेदों के मंत्रसग्रह के आदि में किया है। क्योंकि मनुष्य के शरीर में आवश्यकताओं को चाहने वाले चार ही स्थान हैं और ये चारों पदार्थ उनकी पूर्ति कर देते हैं। मनु भगवान् अपने एक श्लोक में कहते हैं कि—

> अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
> विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥ (मनुस्मृति)

अर्थात पानी से शरीर, सत्य से मन, विद्या और तप से आत्मा तथा ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है। इस श्लोक में शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की गणना अलग-अलग की गई है। हम देख रहे हैं कि इन चारों की जहां पानी आदि अलग अलग चार पदार्थों से शुद्धि होती है, वहां इन शरीरादि चारों अङ्गों को अलग-अलग चार पदार्थों की आवश्यकता भी होती है। ये चारों आवश्यक पदार्थ, अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ही हैं।

शरीरपोषण के लिए अर्थ की, मनस्तुष्टि के लिए काम की, बुद्धि के लिये धर्म की और आत्मा की शांति के लिये मोक्ष की आवश्यकता होती है। क्योंकि विना भोजनादि (अर्थ) के शरीर निकम्मा हो जाता है, विना काम (स्त्री) के मन निकम्मा हो जाता है, विना मोक्ष (अमरता) के आत्मा निकम्मा हो जाता है और विना धर्म (सत्य और न्याय) के बुद्धि निकम्मी हो जाती है। अर्थ और शरीर का, काम और मन का तथा मोक्ष और आत्मा का सम्बन्ध तो प्रत्यक्ष ही है, इसमें किसी को शंका नहीं हो सकती, परन्तु धर्म और बुद्धि का सम्बन्ध सुन कर सम्भव है, लोग कहने लगें कि यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि संसार के धर्मों को बुद्धि का साथ करते हुए नहीं

जाता। परन्तु हम जिस वैदिक धर्म की बात कर रहे हैं, उसकी दशा ऐसी नहीं है। वैदिक धर्म बुद्धिपूर्वक ही है। इसका कारण यही है कि वैदिक धर्म वेदों के द्वारा स्थिर किया गया है और वेद 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' के अनुसार बुद्धिपूर्वक हैं, इसलिए इस धर्म पर वह शंका नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि बुद्धि ज्ञान से सम्बन्ध रखती है। जैसे-जैसे ज्ञान की वृद्धि होती है, वैसे ही वैसे बुद्धि का विकास होता है। इसलिए बुद्धि और ज्ञान एक ही वस्तु के दो विभाग हैं। जिस प्रकार बुद्धि और ज्ञान एक ही वस्तु के दो विभाग हैं, उसी तरह धर्म और ज्ञान भी एक ही वस्तु के दो विभाग हैं। क्योंकि देखा जाता है कि जैसे-जैसे ज्ञान की वृद्धि होती है, वैसे ही वैसे धर्म की भी वृद्धि होती है। धर्म में जितना ही ज्ञानांश होता है और ज्ञान में जितना ही धर्मांश होता है, बुद्धि में उतनी ही स्थिरता होती है। इसी सिद्धांत पर पहुँच कर योरप का प्रसिद्ध विद्वान् हक्स्ले कहता है कि 'सच्चा विज्ञान और सच्चा धर्म दोनों यमज भाई हैं। इनमें से यदि एक को दूसरे से अलग कर दिया जायगा, तो दोनों की मृत्यु हो जायगी। विज्ञान में जितनी ही अधिक धार्मिकता होगी, उतनी ही अधिक उसकी उन्नति होगी। विज्ञान का अभ्यास करते समय मन की धार्मिक वृत्ति जितनी ही अधिक होगी, विज्ञानविषयक खोज उतनी ही अधिक गहरी होगी और उसका आधार जितना ही अधिक दृढ़ होगा, धर्म का विकास भी उतना ही अधिक होगा। तत्त्ववेत्ताओं ने जो अब तक बड़े बड़े काम किये हैं, उन्हें सिर्फ उनके बुद्धिवैभव का ही फल न समझिये, किन्तु उनकी धार्मिक वृत्ति ही इसमें अधिक कारणीभूत है‡।" इसलिये धर्म का ज्ञान के साथ और ज्ञान का बुद्धि के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसमें सन्देह नहीं।

जिस प्रकार धर्म से बुद्धि का सम्बन्ध है, उसी तरह अर्थ से शरीर का, काम से मन का और मोक्ष से आत्मा का भी सम्बन्ध है। इन्हीं अर्थ, धर्म, कामादि में मनुष्य के जीवन, रति, मान, ज्ञान, न्याय और परलोक आदि की समस्त कामनाओं का समावेश हो जाता है, अर्थात् जीवन की अभिलाषा अर्थ में, स्त्रीपुत्रादि की काम में, मान, ज्ञान और न्याय की धर्म में और परलोक की कामना मोक्ष में समा जाती है। अर्थात् समस्त एषणाओं का समावेश अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष में हो जाता है और चारों पदार्थ एक

‡ हर्बर्ट स्पेंसर रचित 'एजुकेशन' नामी ग्रन्थ से उद्धृत।

दूसरे के आधार-आधेय बन जाते हैं। जिस प्रकार अर्थ अर्थात् भोजनवस्त्रादि के बिना शरीर की स्थिति नहीं रह सकती और न काम अर्थात् रति के बिना शरीर उत्पन्न ही हो सकता है और न बिना शरीर और शरीर निर्वाह के मोक्षसाधन ही हो सकता है, उसी तरह बिना मोक्ष साधन के बिना मोक्ष-मार्ग निर्धारण किए अर्थ और काम को भी सहायता नहीं मिल सकती। क्योंकि अर्थ और काम के समस्त पदार्थ प्रायः मनुष्यों, पशुओं और वनस्पतियों से ही प्राप्त होते हैं। ये सभी जीव हैं और कर्मफल भोग रहे हैं। इनका भी उद्धार तभी हो सकता है, जब ये कर्मफल भोग कर मनुष्य शरीर में आवें और यहां मोक्ष का मार्ग खुला हुआ पावें। इसलिये मोक्ष की सच्ची कामना से ही अर्थ और काम को अर्थात् मनुष्यों, पशुओं और वनस्पतियों को सहायता मिल सकती है। मोक्ष की सच्ची कामना के बिना अर्थ और काम का उचित उपयोग हो ही नहीं सकता और बिना उचित उपयोग के अर्थी स्वार्थी हो जाते हैं और कामना वाले कामी हो जाते हैं, तथा स्वार्थी और कामी मिलकर समाज को नष्ट कर देते हैं।

इसीलिये कहा है कि मोक्ष से अर्थ और काम को सहायता मिलती है। किन्तु प्रश्न यह होता है कि अर्थ काम से मोक्ष को और मोक्ष से अर्थ काम को परस्पर उचित सहायता दिलाने वाला नियम कौनसा है? इसका उत्तर स्पष्ट है कि अर्थ, काम और मोक्ष में सामञ्जस्य उत्पन्न करने वाला धर्म है। धर्मपूर्वक मोक्ष साधन से अर्थ और काम की उचित व्यवस्था हो जाती है और धर्मपूर्वक अर्थ-काम को ग्रहण करने से मोक्ष सुलभ हो जाता है। इस प्रकार से ये चारों पदार्थ एक दूसरे के सहायक हो जाते हैं। यद्यपि ये चारों पदार्थ परस्पर एक दूसरे के सहायक हैं और अपने-अपने कार्य में चारों बड़े महत्व के हैं, पर चारों में मोक्ष का स्थान सबसे ऊंचा है। मोक्ष की महत्ता का कारण मृत्यु के दुःखों से छूट जाना है। मनुष्य की समस्त अभिलाषाओं में दीर्घातिदीर्घ जीवन की अभिलाषा ही सर्वश्रेष्ठ है। जिन्दगी के मुकाबिले में मनुष्य अर्थ, काम, मान, न्याय और ज्ञान की परवाह नहीं करता। इस बात का प्रमाण मरने के समय ही मिलता है। इसलिये जिस साधन से मृत्यु का भय सदैव के लिये दूर हो जाय—जिसके प्राप्त हो जाने पर मृत्यु के कारणरूप इस जन्म ही का अभाव हो जाय—उस मोक्ष की समता कौन कर सकता है? यही कारण है कि आर्यों ने अपनी सभ्यता को मो

के उच्च आदर्श पर स्थिर किया है और केवल धर्मपूर्वक प्राप्त अर्थ और काम को ही उसका सहायक माना है, धर्म विरुद्ध को नहीं। धर्मपूर्वक अर्थ और काम को ग्रहण करके मोक्ष प्राप्त करने के लिये ही आर्यों को अपना जीवन धार्मिक बनाने की शिक्षा दी गई है। इसलिये वे ब्रह्मचर्याश्रम से लेकर संन्यास पर्यंत संध्योपासन, प्राणायाम और योगाभ्यास द्वारा अपने जीवन को मोक्षाभिमुखी बनाते हैं।

मोक्ष की प्रधानता

मोक्षप्राप्ति के मार्ग में चलने वाले को दो बातों की आवश्यकता होती है। एक तो सृष्टि उत्पत्ति के कारणों का जानना और कारणों के कारण ईश्वर को प्राप्त करना, दूसरे सृष्टि के उपयोग करने की विधि का समझना। सृष्टि के कारणों और ईश्वर की प्राप्ति के उपायों के ज्ञान से सृष्टि, प्रलय, जीव, ईश्वर, कर्म, कर्मफल और ईश्वर-जीव के संयोग तथा उनकी प्राप्ति आदि का रहस्य खुल जाता है और सृष्टि के उपयोग करने की विधि के ज्ञान से अर्थ और काम के उपभोग का तात्पर्य समझ में आ जाता है, तथा दोनों के मौलिक ज्ञान और उचित उपभोग से मोक्ष हो जाता है। अर्थ और काम के फेर से ही छूटने का नाम मोक्ष है, पर बिना इन दोनों के फेर में पड़े मोक्ष होता ही नहीं। ऐसी सूरत में धर्म का सहारा लेकर ही दोनों में सामञ्जस्य उत्पन्न किया जा सकता है। क्योंकि सभी को अर्थ की आवश्यकता है। भोजन, वस्त्र गृह और गृहस्थी के बिना किसी का गुजर ही नहीं होता। ये सभी पदार्थ, संसार (सृष्टि) से ही लेना पड़ते हैं। इसी तरह सब को काम की भी आवश्यकता होती है। सभी लोग स्त्री, बच्चे, शोभा, शृङ्गार और ठाटबाट की इच्छा रखते हैं। ये पदार्थ भी सृष्टि से ही लिये जाते हैं। अर्थात् आदि से अन्त तक व्यक्ति या समाज को जो कुछ आवश्यक होता है, वह सब संसार से ही—सृष्टि से ही लिया जाता है, इसलिये जब तक संसार के कारणों का ज्ञान न हो जाय तब तक उसके कार्य का यथार्थ उपयोग हो ही नहीं सकता—तब तक यह ज्ञात ही नहीं हो सकता कि हमें इस सृष्टि से—इस संसार से— क्या-क्या, कितना-कितना, कब-कब और किस-किस प्रकार ग्रहण करना चाहिये। इसीलिये आर्यों ने सबसे पहिले संसार के कारणों का पता लगाया है। यहां हम अर्थ और काम की देने वाली सृष्टि के कारणों का वर्णन करते हैं और दिखलाते हैं कि उन कारणों से उत्पन्न कार्य ही अर्थ

और कामरूप से संसार में विद्यमान है, अतः इसका उचित उपयोग करते हुए ही मोक्ष प्राप्त करना चाहिये।

कारण से ही कार्य होता है और कारण ही कार्य में अवतरित होकर अनेक प्रकार के नियमों में परिवर्त्तित हो जाता है। इसीलिये जब कार्य से कारण का अनुसंधान किया जाता है तो कार्य के नियमों का ही निरीक्षण किया जाता है। हमें सृष्टि के कारणों को जानना है, अतएव आवश्यक है कि हम भी इस कार्यरूप सृष्टि के कारणों का अनुसन्धान करें।

नियमों से कारणों का पता

इस कार्यरूप सृष्टि में तीन नियम बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ते हैं। एक तो यह कि इस सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ नियमपूर्वक परिवर्तनशील है, दूसरा यह कि प्रत्येक जाति के प्राणी अपनी जाति के ही अन्दर उत्तम, मध्यम और निकृष्ट स्वभाव से पैदा होते हैं और तीसरा यह कि इस विशाल सृष्टि में जो कुछ कार्य हो रहा है, वह सब नियमित, बुद्धिपूर्वक और आवश्यक है।

इन तीनों प्रत्यक्ष नियमों में सबसे पहिला नियम नियमित परिवर्तन-शीलता का है। बड़े-बड़े सूर्यादि ग्रह-उपग्रहों से लेकर मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतंग और तृणपल्लव तक में नित्य परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। जिस पदार्थ की आज से सौ वर्ष पूर्व जैसी स्थिति थी, वह आज नहीं है और जो आज है, वह सौ वर्ष बाद न रहेगी। जन्म, बाल, युवा और विनाश का क्रम जारी है और 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' के अनुसार उत्पन्न होकर नष्ट होने का नियमित नियम परिवर्तनरूप से चल रहा है। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि यह परिवर्तन का नियम इस सृष्टि का स्वाभाविक गुण नहीं है, क्योंकि स्वभाव में परिवर्तन नहीं होता। जो लोग कहते हैं कि इस सृष्टि का परिवर्तन ही स्वभाव है, वे गलती पर हैं। वे भूल जाते हैं कि परिवर्तन नाम अस्थिरता का है और स्वभाव में अस्थिरता नहीं होती। फेरफार, उलट पलट आदि अस्थिर गुण तो नैमित्तिक हैं, स्वाभाविक नहीं। स्वाभाविक गुण तो वही हैं, जिनका अपने द्रव्य के साथ समवाय-सम्बन्ध है—नित्य सम्बन्ध है। इसलिये इस सृष्टि का परिवर्तन ही स्वभाव मानना उचित नहीं है। परिवर्तन ही स्वभाव मानने से प्रकृति में अनन्त परिवर्तन अर्थात् अनन्त गति माननी पड़ेगी और एक समान अनन्त गति मानने से संसार में किसी प्रकार के ह्रास-विकास के मानने की गुंजायश न रहेगी। किन्तु सृष्टि में पदार्थों के

बनने और बिगड़ने का क्रम नित्य देखा जाता है, इसलिये सृष्टि का परिवर्तन नैमित्तिक ही प्रतीत होता है स्वाभाविक नहीं।

बनने और बिगड़ने तथा जन्म और मृत्यु के नित्य दर्शन से ज्ञात होता है कि यह सृष्टि अनेक छोटे-मोटे टुकड़ों से बनी है। हां संसार का चाहे जो पदार्थ लीजिये वह झुक जायगा, टेढ़ा हो जायगा और टूट जायगा। यहां तक कि बिजली और ईथर भी टूट जाता है। अतएव सिद्ध होता है कि समस्त संसार छोटे छोटे परमाणुओं से ही बना है। क्योंकि यदि संघात से संसार न बना होता और केवल एक ठोस चीज से ही बना होता, तो न इसमें परिवर्तन ही होता और न कभी कोई चीज बनती, न ही बिगड़ती। किन्तु हम पदार्थों को नित्य बनते, बिगड़ते और परिवर्तन होते देख रहे हैं, इसलिये सृष्टि के इस परिवर्तन रूपी प्रधान नियम के द्वारा कह सकते हैं कि सृष्टि के मूल कारणों में से यह एक प्रधान कारण है, जो खण्ड-खण्ड, परिवर्तनशील और परमाणुरूप से विद्यमान है। परन्तु प्रश्न होता है कि क्या ये परमाणु चेतन और ज्ञानवान् भी हैं? इसका उत्तर बहुत ही सरल है। यदि ये परिवर्तनशील परमाणु ज्ञानवान् भी होते तो वे नियमपूर्वक काम न करते। क्योंकि चेतन और ज्ञानवान् दूसरे के बनाये हुए नियमों में बंध ही नहीं सकता। वह सदैव अपनी ज्ञानस्वतन्त्रता से निर्धारित नियमों में बाधा पहुँचाता है। पर हम देखते हैं कि सृष्टि के परमाणु बड़ी ही सच्चाई से अपना काम कर रहे हैं। शरीर में या सृष्टि के अन्य जड़ पदार्थों में जिस जगह लगा दिये गये हैं, वहां आंख बन्द करके अपना काम कर रहे हैं और जरा भी इधर-उधर नहीं होते। इससे ज्ञात होता है कि इस सृष्टि का परिवर्तनशील कारण जो परमाणु रूप से विद्यमान है, वह ज्ञानवान् नहीं किन्तु जड़ है। इसी जड़, परिवर्तनशील और परमाणु रूप उपादान—कारण को माया, प्रकृति, परमाणु, माद्दा और मैटर आदि नामों से कहा गया है और संसार के कारणों में से एक समझा जाता है।

सृष्टि का दूसरा नियम प्राणियों के उत्तम और निकृष्ट स्वभाव का है। अनेक मनुष्य स्वभाव से ही बड़े प्रतिभावान्, सौम्य और दयावान् होते हैं और अनेक मूर्ख, उद्दण्ड तथा निर्दय होते हैं। इसी प्रकार अनेक गौ, घोड़ा आदि पशु स्वभाव से ही सीधे—गरीब—होते हैं और अनेक क्रोधी और दौड़-दौड़कर मारनेवाले होते हैं। इसी तरह बहुत से वृक्ष मीठे फलों से मनुष्यों की

तृप्ति करते हैं और बहुत से वृक्ष ऐसे भी हैं, जो पास में आये हुए प्राणियों को पकड़कर चूस लेते हैं और खा जाते हैं। इस प्रकार से समस्त प्राणिसमूह के स्वभावों में विरोध है। यह स्वभावविरोध शारीरिक अर्थात् भौतिक नहीं है, प्रत्युत आध्यात्मिक है, जो चैतन्य, बुद्धि और ज्ञान से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार के बुद्धिसम्बन्धी प्रमाण वृक्षों में भी पाये जाते हैं। तारीख २४ फेब्रुअरी सन १९३० के 'लीडर' पत्र में छपा है कि बगीचों में पड़े हुए नलों के सूराखों को वृक्ष ताड़ लेते हैं और उन सूराखों में अपनी जड़ें डाल देते हैं। इसी तरह एक बेल ऐसी है, जो किसी वृक्ष की चोटी तक जाकर जमीन में वापस आती है और फिर दूसरे वृक्ष में चढ़ने के लिए दौड़ती है, चाहे भले वह वृक्ष पचास गज की ही दूरी पर क्यों न हो' *। परन्तु यह न समझना चाहिये कि वह ज्ञान प्राणियों के सारे शरीर में व्याप्त है। यह सारे शरीर में व्याप्त नहीं है। क्योंकि यदि सारे शरीर में व्याप्त होता तो हाथ, पैर, कान और नाक के कट जाने पर वह भी कट जाता और कटा हुआ ज्ञानांश कम हो जाता, पर हम देखते हैं कि दोनों टांगें जड़ से काट देने पर भी किसी गणितज्ञ के गणितसंबन्धी ज्ञान में या इतिहासज्ञ की इतिहाससंबन्धी याददाश्त में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता और न उसको यही मालूम होता कि मेरा ज्ञान पहिले से कम है। इसलिए यह निश्चित और निर्विवाद है कि ज्ञानवाली शक्ति सारे शरीर में व्याप्त नहीं है, प्रत्युत वह एकदेशी, परिच्छिन्न और अणुरूप ही है, क्योंकि सूक्ष्मातिसूक्ष्म कृमियों में भी मौजूद है। यदि सारे शरीर

* Trees have almost as wonderful a sense of direction as birds. Should there be a leak in an under-ground water pipe in a park or garden, a neighbouring tree is almost sure to find in out, and extending its roots in that direction, project a shoot through the break into the pipe. Even more extraordinary is the performance of the rattan, a climbing palm common in tropical countries. When it has climbed a tree, it goes over the top and comes down again to the ground. Then growing at the rate of a foot every twenty-four hours, it sets out straight for the next tree, which may be over 50 yards away.

में व्याप्त होती, तो शरीर के बढ़ने के साथ उसको भी बढ़ना पड़ता और शरीर के घटने के साथ उसे भी संकुचित होना पड़ता। अर्थात् उसकी दशा ठीक रबर या स्प्रिंग की भांति होती और बिना अनेक परमाणुसंवाद के इस प्रकार का ह्रासविकास न हो सकता। पर जैसा कि हम इसी पुस्तक के पृष्ठ १९४ में लिख आये हैं कि ज्ञानवान् तत्त्व संयुक्त परमाणुओं से नहीं बन सकता और न अनेक अज्ञानी परमाणु एक जगह एकत्रित होकर परस्पर ज्ञानसंवाद ही जारी रख सकते हैं, इसलिए यह शक्ति रबर की तरह घटने बढ़नेवाली और अनेक परमाणुओं के संयोग से बनी हुई वस्तु नहीं, प्रत्युत स्वयंसिद्ध असंयुक्त, अणु और ज्ञानवान् वस्तु है। इसके अतिरिक्त वह शक्ति असंख्य भी प्रतीत होती है। क्योंकि एक मनुष्य का अनुभव समस्त मनुष्यों और प्राणियों में आप ही आप फैलता हुआ नहीं देखा जाता। कलकत्तेवाला मनुष्य जिस समय हावड़ा के पुल से जिस नाव को देख रहा है, उसी समय समस्त संसार के मनुष्य उसी नाव को नहीं देख रहे। इससे मालूम होता है कि प्रत्येक शरीर में एक अणु, परिच्छिन्न और ज्ञानवान् स्वतन्त्र सत्ता विद्यमान है, जो अपने स्वभाव के अनुसार उत्तम अथवा निकृष्ट आचरण से सूचित होती है। इसी को लोग जीव, रूह और सोल के नाम से पुकारते हैं और यही सृष्टि का दूसरा कारण है, जो सृष्टि के इस व्यापक नियम से ही ज्ञात हो रहा है।

सृष्टि का तीसरा नियम यह है कि इस विस्तृत सृष्टि में जो कुछ कार्य हो रहा है, वह नियमित, बुद्धिपूर्वक और आवश्यक है। सूर्य, चन्द्र और समस्त ग्रह उपग्रह अपनी-अपनी नियत धुरी पर नियमित रूप से भ्रमण कर रहे हैं। पृथिवी अपनी दैनिक और वार्षिक गति के साथ अपनी नियत सीमा में घूम रही है। वर्षा, सर्दी और गर्मी नियत समय में होती हैं। मनुष्य और पशु-पक्ष्यादि के शरीरों की बनावट वृक्षों में फूलों और फलों की उत्पत्ति, बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज का नियम और प्रत्येक जाति की आयु और भोगों की व्यवस्था आदि जितने इस सृष्टि के स्थूल-सूक्ष्म व्यवहार हैं, सब में व्यवस्था, प्रबन्ध और नियम पाया जाता है। नियामक के नियम का सबसे बड़ा चमत्कार तो प्रत्येक प्राणी के शरीर की वृद्धि और ह्रास में दिखलाई पड़ता है। क्यों एक बालक नियत समय तक बढ़ता है और क्यों एक जवान धीरे-धीरे ह्रास की ओर—वृद्धावस्था की ओर—जाता है, इस बात को कोई नहीं कह सकता। यदि कोई कहे कि वृद्धि और ह्रास का कारण आहार आदि पोषक

पदार्थ हैं, तो ठीक नहीं क्योंकि हम रोज देखते हैं कि एक ही घर में, एक ही परिस्थिति में और एक ही आहार-विहार के साथ रहते हुए भी छोटे-छोटे बच्चे बढ़ते जाते हैं और जवान वृद्ध होते जाते हैं तथा वृद्ध अधिक जर्जरित होते जाते हैं। इन प्रबल और चामत्कारिक नियमों से सूचित होता है कि इस सृष्टि के अन्दर एक अत्यन्त सूक्ष्म, सर्वव्यापक, परिपूर्ण और ज्ञानरूपा चेतनशक्ति विद्यमान है जो अनन्त आकाश में फैले हुए असंख्य लोकलोकान्तरों का भीतरी और बाहरी प्रबन्ध किये हुए है। क्योंकि नियम बिना नियामक के, नियामक बिना ज्ञान के और ज्ञान बिना ज्ञानी के ठहर नहीं सकता। पर हम सम्पूर्ण सृष्टि में नियमपूर्वक व्यवस्था देखते हैं, इसलिए सृष्टि का यह तीसरा कारण भी सृष्टि के नियमों से ही सिद्ध होता है। इसी को परमात्मा ईश्वर, खुदा और गॉड आदि कहते हैं। इस तरह से संसार के तीनों नियमों से तीनों कारणों का पता मिलता है। सृष्टि के ये तीनों कारण स्वयंसिद्ध और अनादि हैं, इसीलिए यह प्रवाह से अनादि सृष्टि भी बुद्धिपूर्वक नियमों में आबद्ध होकर कार्य कर रही है। क्योंकि जितने पदार्थ स्वयंसिद्ध, कारणरूप और स्वयंभू होते हैं, उन्हीं के गुण, कर्म, स्वभाव भी निश्चित होते हैं और उन्हीं गुणों से जो कार्य बनते हैं, वे नियमपूर्वक कार्य करते हैं। यह कार्यरूप सृष्टि प्रत्यक्ष ही सुव्यवस्थित, बुद्धिपूर्वक और नियमित कार्य कर रही है, इसलिए इसके तीनों कारणों के स्वयंसिद्ध होने में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता। इसलिए अब आगे इन कारणों से कार्य का वर्णन करते हैं।

कारणों से कार्य की उत्पत्ति।

उपर्युक्त तीनों कारणों में से पहिला कारण जड़, परमाणुरूप और नियम से परिवर्तित होनेवाली प्रकृति है, दूसरा कारण असंख्य, परिच्छिन्न और चेतन जीव हैं और तीसरा कारण व्यापक, परिपूर्ण और ज्ञानी परमात्मा है +। इन तीनों में से प्रकृति और जीव इस अनन्त सृष्टि का परस्पर सम्बन्ध

+ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्योऽभि चाकशीति॥
[ऋ० १।१६।२०]

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्यमहिमानमिति वीतशोकः॥

स्थापित करते हुए नियम में नहीं रख सकते। क्योंकि दोनों अणु, परिच्छिन्न और एकदेशी हैं। यद्यपि समस्त जीव ज्ञानवान् हैं, परन्तु अणु होने से उनमें ज्ञान भी अणुमात्र ही है, इसलिए इस अनन्त जगत् को वे सब मिलकर भी नियम में नहीं रख सकते। इसका नियामक तो परमात्मा ही हो सकता है, अपनी अनन्त सत्ता और अनन्त ज्ञान से सर्वत्र व्याप्त है। किन्तु प्रश्न यह है कि परमात्मा इस सृष्टि का नियमन क्यों करता है ?

हम लिख आये हैं कि इस सृष्टि के तीन कारणों में से एक कारण असंख्य अल्पज्ञ जीव भी हैं। ये जीव जब मनुष्यरूप होकर शरीरों को धारण करते हैं तो एकदेशी होने के कारण अपने से भिन्न अन्य पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा से सदैव कुछ न कुछ प्रयत्न किया करते हैं। इनके इस प्रयत्न से परस्पर संघर्ष उत्पन्न होता है और उस संघर्ष से बहुतों को महान् कष्ट होने लगता है। कभी-कभी तो इनमें इतने अधिक अत्याचारी मनुष्य उत्पन्न हो जाते हैं कि उनकी सम्मिलित क्रिया से संसार में बहुत बड़े-बड़े उथलापथल हो जाते हैं और सृष्टि में अभूतपूर्व अपवाद उत्पन्न हो जाते हैं* तथा अच्छे प्राणियों को घोर यातनाएं भोगनी पड़ती हैं। ऐसी दशा में अपनी उच्च सभ्यता, न्याय और दया से प्रेरित होकर परमात्मा सृष्टिनियमों की रक्षा करने के लिए और हानिकारक से हानिग्राहकों को बदला दिलाने के लिए विवश होता है। जिस प्रकार दो लड़ते हुए मनुष्यों में एक को अन्याय करते हुए देखकर एक भद्र पुरुष अन्याय करने वाले से अन्यायप्राप्त का प्रतिफल दिलाकर झगड़ा शान्त करने की कोशिश करता है, ठीक इसी प्रकार दया, धर्म और न्याय-स्वरूप परमात्मा भी अत्याचारी जीवों को दण्ड देकर अर्थात् अत्याचार सहने वालों को प्रतिफल दिलाकर सृष्टिनियमों की रक्षा करता है। यह न्याय, वह

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनु शेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भुक्तभोगार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥
(श्वेता० उपनिषद्)

*कभी कभी संसार में जो कुछ बातें अनियमित सी होती हुई दिखती हैं, वे अपवाद हैं। उन अपवादों के कारण जीवों के सामूहिक और अनियमित कर्म ही हैं।

नाना प्रकार की योनियों को बनाकर करता है और एक योनि से दूसरी को लाभ पहुँचाता है। अर्थात पूर्वजन्म का प्रतिफल दिलाता है। यही उसके नियामक बनने का कारण है।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि जब यह मालूम होने पर कि अमुक समय में, अमुक स्थान में डाका पड़ने वाला है, साधारण पोलीस तुरन्त ही प्रबन्ध कर लेती है, तो भविष्य में होने वाले अत्याचारों का परमात्मा क्यों नहीं प्रबन्ध कर लेता? इसका उत्तर यही है कि मनुष्य की बुद्धि सदैव परिवर्तित होती रहती है। चोर चोरी करने के लिये चलता है, पर कभी बीच ही से लौट आता है। ऐसी सूरत में यदि इरादा करते ही अथवा चोरी के लिए चलते ही सज़ा दे दी जाय, तो अन्याय ही कहा जायगा। क्योंकि इरादे की सज़ा नहीं होती। यदि कोई करोड़ रुपये के दान का इरादा करे, तो क्या उसको दान का फल इतने ही से मिल जायगा? कभी नहीं। इसीलिए कर्म कर चुकने पर ही फल की व्यवस्था करना उचित है। रहा यह कि परमात्मा जीवों को बुरे कर्मों की चेष्टा से ही क्यों नहीं जुदा कर देता? तो इसका उत्तर स्पष्ट है कि प्रथम तो स्वाभाविक चेतन जीव ऐसे निश्चेष्ट हो ही नहीं सकते, दूसरे यदि परमेश्वर जीवों की वृत्तियों के साथ-साथ उनको दबाता फिरे तो स्वयं वही महान् संकट में पड़ जाय, जिसे परमात्मा तो क्या कोई मूर्ख मनुष्य भी मंजूर नहीं कर सकता। इसलिए कर्म के पूर्व ही फल दे देना या कर्म करने को ही रोकते फिरना युक्तिसंगत नहीं है। युक्ति और न्याय के अनुसार यही है कि जीव स्वतन्त्रता से कर्म करें और ईश्वर स्वतंत्रता से उनका न्याय करे। यही आज तक होता आया है और यही संसार की उत्पत्ति का प्रधान कारण है और ईश्वर की सर्वत्र व्यापकता का पूर्ण प्रमाण है।

परमेश्वर की इस सर्वत्र व्यापकता पर कुछ लोग यह भी प्रश्न करते हैं कि जब परमात्मा इस अनन्त आकाश में फैले हुए असंख्य जीवों का न्याय करता है, तो क्या वह अपनी लम्बाई चौड़ाई को जानता है? क्या वह जानता है कि मैं कहां तक फैला हुआ हूं? इस प्रश्न का इतना ही उत्तर है कि जिस प्रकार जीव अत्यन्त छोटा है, पर अपनी छोटाई को ठीक ठीक नहीं जानता कि मैं कितना छोटा हूँ उसी तरह परमात्मा बहुत बड़ा है, पर अपनी बड़ाई का अन्त वह भी नहीं जानता कि मैं कितना बड़ा हूँ? क्योंकि अपने आपको

जानने में सब अल्पज्ञ ही होते हैं। जैसे आंख अपने आप को देखने और जानने में असमर्थ है, उसी तरह जीव और परमेश्वर भी अपनी छोटाई और बड़ाई जानने में असमर्थ हैं। इसलिए अपने आपकी पूरी मर्यादा का पूर्ण ज्ञान न होना अपने अभाव की दलील नहीं है। क्योंकि जब जीव अपनी छोटाई को न जानता हुआ भी है और अपने भाव को जानता है और जब आंख अपने आपको न देखती हुई भी है और अपने भाव को जानती है, तब परमात्मा भी अपनी अनन्तता को न जानता हुआ भी है और अपने भाव को जानता है। तात्पर्य यह है कि जो चीज जैसी होती है, वह वैसी ही प्रतीत होती है। जैसे जीव अत्यन्त छोटा है, पर वह अपनी अत्यन्त छोटाई को नहीं जान सकता। यदि जानले तो अत्यन्त छोटाई ही न रहे। इसी तरह परमात्मा अनन्त है, यदि वह अनन्तता को जान ले, तो उसकी अनन्तता ही न रहे, प्रत्युत अन्तर नहीं आ सकता। परमात्मा अनन्त है और अनन्तता से सर्वत्र व्यापक होकर सब जीवों की न्याय व्यवस्था करता है, करता रहा है और करता रहेगा। यही सृष्टि के कारणों और उनके नियमों का दिग्दर्शन है। इसके आगे अब यह दिखलाने का यत्न करते हैं कि यह सृष्टि किस प्रकार बनी।

जड़ सृष्टि की उत्पत्ति

सृष्टि के परिवर्तन और प्राणियों के उत्तम और अधम स्वभावों से जाना जाता है कि यह सृष्टि कभी परिवर्तनरहित स्थिर दशा में थी और समस्त प्राणी स्थूल शरीरविहीन अपने कृत कर्मों का फल भोगने के लिए किसी व्यवस्थापक के द्वारा किसी कामगार में जाने के योग्य हो रहे थे। हम इस पुस्तक (वैदिक सम्पत्ति) के पृष्ठ १२१ में लिख आये हैं कि परिवर्तनशील पदार्थ भविष्य में परिवर्तनशून्य होकर स्थिर हो जाते हैं और भूतकाल में भी विना परिवर्तन के स्थिर दशा में ही रहते हैं। इसी सिद्धान्तानुसार यह परिवर्तनशील संसार भी भूतकाल में विना परिवर्तन के अपनी कारण दशा में ही स्थिर था। इसी तरह समस्त प्राणियों के परिवर्तनशील शरीर भी अपने कारणों में ही मिले हुए थे और समस्त चेतनशक्तियां शरीरहीन अवस्था में ही थीं, तथा अगले फल भोगने को उत्सुक हो रही थीं। अर्थात् सारा सामान नवीन सृष्टि निर्माण के योग्य प्रस्तुत था। ऐसी दशा में यह प्रश्न स्वाभाविक ही उपस्थित होता है कि सृष्टि उत्पत्ति किस प्रकार आरम्भ हुई है और वह किस प्रकार बनी ?

यद्यपि कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अनादि प्रकार से सृष्टि सदैव बनती रही है, उसी प्रकार इस बार भी बनी। तथापि इतने से ही उन उलझनों का समाधान नहीं हो सकता, जो सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में उत्पन्न हो गई हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लोगों की कई रायें हैं। कोई कहता है कि सृष्टि को प्राकृतिक शक्ति ने स्वयं बना लिया, कोई कहता है कि सृष्टि को जीवों ने मिलकर बना लिया और कोई कहता है कि सृष्टि को परमात्मा ने ही बना लिया है। ऐसी दशा में जब तक तीनों रायों की आलोचना न हो जाय तब तक कोई स्थिर सिद्धान्त कायम नहीं हो सकता। इसलिए हम यहां क्रम से तीनों मतों की आलोचना करते हैं।

जो लोग कहते हैं कि प्राकृतिक शक्तियों ने स्वयं इस सृष्टि को उत्पन्न कर लिया है, वे गलती पर हैं। क्योंकि प्रकृति की शक्तियां परमाणुओं के ही अन्दर हैं और परमाणु सब एक समान हैं। ऐसी दशा में समान बल वाले परमाणु आप ही आप न तो आपस में मिल ही सकते हैं और न अलग ही हो सकते हैं। पर संसार में पदार्थों को मिलते और अलग होते हुए—बनते और बिगड़ते हुए—नित्य देखते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि परमाणुओं में न तो बल ही एक समान है और न उनसे आप ही आप कोई कार्य बन और बिगड़ ही सकता है। यदि कुछ परमाणुओं को प्रबल और कुछ को हीन बल वाले मानें, तो भी काम नहीं चल सकता। क्योंकि प्रबल परमाणु हीन बल वालोंको खींचलेंगे और कभी भी न छोड़ेंगे। फल यह होगा कि न किसी पदार्थ में परिवर्तन होगा और न कोई पदार्थ नष्ट ही होगा, प्रत्युत समस्त जगत् बिना किसी प्रकार के परिवर्तन के ठोस, स्थिर रूप से बना रहेगा। परन्तु हम संसार के समस्त पदार्थों में परिवर्तन और विनाश देखते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि परमाणुओं में न तो बल ही न्यूनाधिक है और न इस सृष्टि में न्यूनाधिक बल का प्रभाव ही है। इन सम और विषम दो प्रकार की शक्तियों के अतिरिक्त प्राकृतिक परमाणुओं में तीसरे प्रकार के अन्य बल की कल्पना नहीं हो सकती। इससे ज्ञात होता है कि दूर-दूर स्थित परमाणु बिना किसी माध्यम के एक दूसरे पर प्रभाव डाल कर न तो आकर्षित ही कर सकते हैं और न आकृष्ट परमाणुओं को जुदा ही कर सकते हैं, इसलिए केवल प्राकृतिक शक्तियां ही सृष्टि को उत्पन्न नहीं कर सकतीं।

इसके सिवा जो लोग कहते हैं कि समस्त जीवों ने मिल कर सृष्टि को

उत्पन्न कर लिया है, वे भी भूलते हैं। क्योंकि जो पदार्थ अणु, परिच्छिन्न एकदेशी हैं, चाहे भले वे चेतन और असंख्य ही क्यों न हों, वे अनन्त सृष्टि को बुद्धिपूर्वक न तो बना ही सकते हैं और न उसको नियम में ही रख सकते हैं। इसका कारण जीवों की अल्पज्ञता और अणुरूपता ही है । संसार का बनाना तो बहुत दूर की बात है। वे आदि में अपने शरीरों को ही नहीं बना सकते। इसलिए अनेक चेतन मिल कर भी सृष्टि को नहीं बना सकते।

जो लोग कहते हैं कि परमेश्वर ने ही इस सृष्टि को बना लिया है, वे इस बात को भूल जाते हैं कि परमात्मा सर्वत्र व्याप्त और परिपूर्ण है। जो चीज सर्वत्र व्याप्त और परिपूर्ण होती है, वह हिल डुल नहीं सकती। परन्तु सृष्टि उत्पन्न करने के लिए प्रकृति-परमाणुओं में गति उत्पन्न करना पड़ता है और दूसरे पदार्थ में वही गति उत्पन्न कर सकता है, जो पहले स्वयं गतिमान् होता है, इसलिए विना खुद हिले डुले परमात्मा भी परमाणुओं को हिला डुला नहीं सकता। इस पर कुछ लोग कहते हैं कि जिस प्रकार चुम्बक विना खुद हिले डुले लोहे में गति उत्पन्न कर देता है, उसी तरह परमात्मा ने भी विना हिले डुले परमाणुओं में गति उत्पन्न कर दी है। पर इस युक्ति में यह ऐतराज हो सकता है कि प्रकृति-परमाणुओं को तो परमेश्वर समान रूप से नित्य ही प्राप्त है, इसलिए नित्य एक ही प्रकार की गति हो सकती है, दो प्रकार की परस्पर विरोधी गति नहीं। अर्थात् या तो सृष्टि ही बन जायगी या बिगड़ ही जायगी, या तो उत्पत्ति ही हो जायगी या विनाश ही हो जायगा, लेकिन वह न हो सकेगा कि परमेश्वर जब जैसा चाहे तब वैसा हो जाय, अर्थात् जब बनाना चाहे तब बन जाय और जब बिगाड़ना चाहे तब बिगड़ जाय। क्योंकि चेतन की इच्छा का असर जड़ प्रकृति पर नहीं पड़ता, इसलिए परमेश्वर भी सृष्टि को उत्पन्न नहीं कर सकता। ऐसी दशा में स्वाभाविक ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस सृष्टि को किसने किस प्रकार उत्पन्न किया ?

उपर्युक्त कोटि कल्पना से ज्ञात होता है कि तीनों पदार्थों में से एक भी ऐसा नहीं है, जो अकेला इस सृष्टि की रचना का आरम्भ कर दे। किन्तु तीनों पदार्थों के एक विशेष प्रकार के क्रम की कल्पना करने से प्रतीत होता है कि इन्हीं तीनों की संयुक्त सहयोगशक्ति से सृष्ट्युत्पत्ति का आरम्भ हो सकता है। क्योंकि सृष्टि उत्पन्न करने के लिए परमेश्वर जैसा सर्वज्ञ, सर्वत्र व्याप्त

और परिपूर्ण पदार्थ मौजूद ही है, परमात्मा की इच्छाशक्ति से प्रभावित होने वाली असंख्य चेतनशक्तियां भी जीव रूप से इसी में पिरोई हुई हैं और उन शक्तियों के आघात-प्रतिघात से गति करने वाले प्रकृति-परमाणु भी उपस्थित ही हैं। ऐसी दशा में सृष्टि के उत्पन्न करने वाले सामान को कहीं बाहर से लाने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्युत तीनों के एक विशेष क्रम से ही काम चल सकता है। आर्यों ने उस क्रम को जान लिया है और उन्हीं तीनों पदार्थों के गुण, कर्म और स्वभावों को ध्यान में रख कर वेद के आदेशानुसार इस जटिल और मौलिक प्रश्न को सुलझा लिया है। यजुर्वेद ३२।५ में लिखा है कि—

यस्माज्जातं न पुरा किंचनैव य आवभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी।

अर्थात् जिसके पहिले कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ, इसी सोलह कला वाले प्रजापति परमेश्वर ने प्रजा के साथ रमते हुए अग्नि, विद्युत्, और सूर्य को बनाया। इस मन्त्र में बतलाया गया है कि आरम्भ में परमात्मा ने जीवों में प्रेरणा करके सारी प्रकृति में हलचल उत्पन्न कर दी है। इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है कि--'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी' अर्थात् परमात्मा और आत्मा से आकाश (ईथर), आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, और जल से पृथिवी बनी है। इस वर्णन में भी परमात्मा और आत्मा से ही प्रकृति में गति की उत्पत्ति बतलाई गई है। इसके अतिरिक्त छान्दोग्य उपनिषद् में तो स्पष्ट ही कह दिया गया है कि--'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' अर्थात् परमात्मा ने जीवों में विशेष रूप से प्रविष्ट होकर इस नामरूपात्मक संसार की रचना की है। इसी तरह मनु ने भी कहा है कि सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने सजग होकर सबसे पहिले मन (जीवों) को उद्बोधित किया और मन से समस्त प्रकृति में हलचल हो गई*। कहने का मतलब यह है कि वेदों से लेकर उपनिषद् और मनुस्मृति

---

* तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम्॥
मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानसिसृक्षया॥ (मनु० १।७४-७५)

आदि तक समस्त आर्ष ग्रन्थ एक स्वर से कहते हैं कि परमात्मा ने पहिले अपनी इच्छाशक्ति से चेतन जीवों को उद्बोधित किया और जीवों ने अपनी हलचल से समस्त प्रकृति-परमाणुओं में गति उत्पन्न कर दी। यह बात ठीक भी प्रतीत होती है। क्योंकि परिपूर्ण परमात्मा अपनी इच्छाशक्ति से जीवों में हलचल कर सकता है और उसकी इच्छाशक्ति का असर चेतन जीवों पर पड़ सकता है। इसी तरह जीवों की हरकत का वर्णन प्रभाव भी परमाणुओं पर पड़ सकता है। इसका नमूना हम नित्य अपने शरीर में देखते हैं। जिस प्रकार हमारे हर्ष, शोक और चिन्ता का असर शरीर-परमाणुओं पर पड़ता है और मुखमुद्रा में अन्तर पड़ जाता है और जिस प्रकार हमारी इच्छा से ही हाथ, पैर और अन्य अङ्गों के परमाणु भी गति करते हैं और शरीर के समस्त व्यापार होते हैं उसी तरह आदि में जीवों की हलचल से भी समस्त परमाणु-समूह में हलचल उत्पन्न हो सकती है। अतएव आदि में इसी प्रकार की क्रिया होती है। जब परमात्मा जीवों को प्रेरित करता है, तब उनमें इतना वेग उत्पन्न हो जाता है कि समस्त प्राकृतिक परमाणु अत्यन्त वेग से गतिमान् हो जाते हैं।

इस गति से प्रकृति के पांचों कर्म उत्पन्न होते हैं❀। अग्नि का गुण ऊपर जाना है इसलिए अग्नि के परमाणु ऊपर को चलते हैं और जल का गुण नीचे जाना है, इसलिए जल के परमाणु नीचे को जाते हैं और दोनों शक्तियां टकरा जाती हैं। इन दोनों विरुद्ध शक्तियों के टकराने से एक विशाल ठेलपेल आरम्भ होती है। इसी समय पृथिवीके आकर्षणगुणवाले परमाणु उस विशाल ठेलपेल को ठहराते हैं, वायु के प्रसारण गुणवाले परमाणु उस सघन ठेलपेल में धक्का लगाते हैं और आकाश (ईथर) के परमाणु उस ठेलपेल को गमन करने के लिए स्थान देते हैं। फल यह होता है कि वह सारा परमाणुसमूह

❀ वैशेषिक दर्शन में 'उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि' लिखकर पांच कर्मों का निर्देश किया गया है। ये पांचों कर्म पांचों भौतिक तत्वों के हैं। अग्नि कहीं भी जलाई जाय, उसकी गति ऊपर को ही होती है और जल कहीं भी डाला जाय, उसकी गति नीचे को ही होती है। इसी तरह पृथिवी आकर्षण करती है, हवा फैलाती है और आकाश गमनागमन के लिए स्थान देता है।

चक्राकार गति में घूम जाता है। जिस प्रकार गोली खेलने वाले लड़के उंगलियों से गोली में दो विरुद्ध गतियों को देकर, कलाइयों से थामकर और हाथ आगे बढ़ाकर गोली को जमीन में डाल देते हैं और वह गोली नाचने लगती है, उसी प्रकार प्रकृति के पांचों कर्म प्रकृति-परमाणु-पुंज को चक्राकार गति में नचा देते हैं। यही चक्राकार गति में फिरनेवाला आदिम प्रकृति-पुंज वेद में हिरण्यगर्भ और लोकमें ब्रह्मा कहा गया है। ऋग्वेद में लिखा है कि 'हिरण्य गर्भः समवर्तताग्रे' अर्थात् सबसे पहिले हिरण्यगर्भ नाम का महान् चमकीला और बहुत बड़ा प्राकृतिक गोला उत्पन्न हुआ। इस हिरण्यगर्भ गोले के विषय में मनु भगवान् कहते हैं कि—

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥ (मनुस्मृति)

अर्थात् हजारों सूर्य के समान कान्ति वाले उस गोले में सर्वलोकपितामह—ब्रह्मा—उत्पन्न हुए। ब्रह्मा के नामों को गिनते हुए अमरकोश में लिखा है कि—

ब्रह्मात्मभूः सुरश्रेष्ठः परमेष्ठी पितामहः।
हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयम्भूश्चतुराननः॥ (अमरकोश)

अर्थात् ब्रह्मा, आत्मभूः सुरश्रेष्ठ, परमेष्ठी, पितामह, हिरण्यगर्भ, लोकेश, स्वयंभू और चतुरानन एक ही पदार्थ के नाम हैं। इसमें ब्रह्मा और हिरण्यगर्भ को एक ही पदार्थ बतलाया है। वेद में दूसरी जगह इसी गोले को 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' अर्थात् हजारों शिरों, हजारों आंखों और हजारों पैरोंवाला कहा गया है। अर्थात् इस आदिम सृष्टि गर्भ को भारतीय साहित्य में सहस्रशीर्ष, हिरण्यगर्भ, स्वयंभू, हेमाण्ड और ब्रह्मा आदि नामों से कहा गया है और इसी को पाश्चात्य वैज्ञानिक नेब्यूला-थियरी में गेसेस मास कहते हैं। यही इस वर्तमान सृष्टि का मूल और बीज है।

कहते हैं कि समय पाकर इसी गोले से अनेक गोले उत्पन्न हो गये और अलग-अलग अनेकों सूर्य के नाम से आकाश में फैल गये। इस प्रकार के प्रत्येक सौर जगत को विराट् कहा गया है। मनुस्मृति में लिखा है कि उसी हिरण्यगर्भ गोले के दो भाग हो गये और उन्हीं से विराट् को उत्पत्ति हुई ❀।

❀ द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥ (मनुस्मृति)

वेद में लिखा है कि 'ततो विराडजायत' अर्थात् उसी सहस्र शिरवाले हिरण्यगर्भ से विराट् पैदा हुआ और 'पश्चाद् भूमिमथो पुरः'। अर्थात् इसके बाद भूमि उत्पन्न हुई। इस वर्णन से मालूम होता है कि इस अनन्त सृष्टि में अनेकों विराट् हैं। क्योंकि विराट् पुरुष के शरीर की जो मर्यादा वेदों में लिखी है, वह उतनी है, जितनी कि एक सौर-जगत् की है। विराट् पुरुष का वर्णन करते हुए वेद में कहा गया है कि 'शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत, यस्य वातः प्राणः; चक्षोः सूर्योऽजायत, दिशः श्रोत्रम्, नाभ्यासीदन्तरिक्षम्, पद्भ्यां भूमिः' अर्थात् विराट् का शिर द्यौ—आकाश—है +, वायु प्राण—बाहुबल—है ×, सूर्य नेत्र है, दिशाएं कान हैं, अन्तरिक्ष नाभि है ई और पृथिवी पैर है। विराट् का यह सारा वर्णन मनुष्य के रूप से मिलाया गया है और आदिम ब्रह्मारूपी पितामह की उत्पत्ति से लेकर पिता विराट् और माता पृथिवी की उत्पत्ति तक का वर्णन किया है, इस उत्पत्ति क्रम में पहले हिरण्यगर्भ ब्रह्मा-की उत्पत्ति बतलाई गई है और अन्त में कहा गया है कि पृथिवी उत्पन्न हुई। इस प्रकार से यह जड़ सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करके अब आगे चेतन सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं।

चेतन सृष्टि की उत्पत्ति।

हम गत पृष्ठों में कह आये हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति का प्रधान कारण जीवों से कर्म और परमेश्वर का न्याय ही है। जीव अनादि काल से कर्म करते हुए चले आ रहे हैं और परमात्मा भी अनादि काल से उनको कर्मफल देता हुआ चला आ रहा है। इसीलिए प्रत्येक प्रलय के बाद नवीन सृष्टि होती है और जब सूर्य, चन्द्र और पृथिवी आदि की रचना हो जाती है, तब

\+ द्यौ दिवौ द्वे स्त्रियामभ्रंव्योमपुष्कराम्बरम्।
नभोऽन्तरिक्षं गगनमनन्तं सुरवर्त्म खम्॥ (अमरकोश)

× प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितम् तस्माद् बाहुबलम्।
(शत० ब्रा० १४। ८। ६)

ई जिस तरह मनुष्य के पेट में जठराग्नि और अन्नरस रहता है, उसी तरह विराट् के अन्तरिक्षरूपी पेट में विद्युद्रूपी जठराग्नि और रसरूपी मेघ-जल रहता है।

पृथिवी के अनुकूल हो जाने पर परमात्मा जीवों के शेष कर्मों के अनुसार उनको नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न करता है। मनुस्मृति में लिखा है कि—

य ं तु कर्माणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः॥ (मनु० १।२८)

अर्थात् उस प्रभु—परमात्मा ने सृष्टि के आदि में जिसकी जिस स्वाभाविक कर्म में योजना की, उसने उत्पन्न होकर वही स्वाभाविक कर्म किया। तात्पर्य यह कि जिसको जिस योनि के योग्य समझा उसको उसी योनि में उत्पन्न किया। इस कर्म और कर्मानुसार शरीरधारण के सिद्धांतानुसार समस्त कर्मों और समस्त शरीरों को तीन भागों में बांटा जा सकता है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि समस्त कर्मों के तीन वर्ग हैं, तदनुसार समस्त प्राणिशरीरों के भी तीन ही वर्ग हैं। कर्मों के तीन वर्ग सात्त्विक, राजस और तामस हैं। इन्हीं को दूसरे शब्दों में आचार, अनाचार और अत्याचार कहते हैं। ये तीनों प्रकार के कर्म बुद्धि, निर्बुद्धि और प्रमाद से किये जाते हैं। सृष्टिनियमों के अनुसार और धर्मानुकूल बुद्धिपूर्वक आचरण-व्यवहार-का नाम आचार है और वह सात्त्विक कर्म कहलाता है। सृष्टिनियमों को विना जाने निर्बुद्धितापूर्वक कुछ न कुछ कर डालने का नाम अनाचरण है और वह राजस कर्म कहलाता है। प्रमाद, आलस्य तथा अभिमान से किये गये सृष्टि के प्रतिकूल अधर्माचरणों का नाम अत्याचार है और वे तामस कर्म कहलाते हैं। इन्हीं तीनों प्रकार के कर्मों के अनुसार तीन प्रकार के शरीर बनते हैं।

ज्ञानयुक्त सात्त्विक कर्मों के करने से ज्ञानयुक्त मनुष्यशरीर बनता है, अज्ञानयुक्त कुछ न कुछ उलटे सीधे कर्मों के करने से अज्ञानयुक्त पशु शरीर बनता है और आलस्य, प्रमाद, तथा अभिमानयुक्त दुष्कर्मों के करने से ज्ञान और कर्महीन अन्धकारमय वृक्षशरीर बनता है। ज्ञानपूर्वक इन्द्रियों के उपयोग करने से मनुष्यों को ज्ञान और कर्म के धारण करने वाले परिपूर्ण अ ंग दिये गये हैं, अज्ञानवश केवल कुछ न कुछ करने से पशुओं को ज्ञानहीन केवल कुछ न कुछ कर लेने वाले अपूर्ण अ ंग दिये गये हैं और ज्ञान तथा कर्म दोनों का जान बूझकर दुरुपयोग करने से वृक्षों को ज्ञान और कर्म दोनों से वंचित कर दिया गया है। इस प्रकार से तीन किस्म के कर्मों के कारण तीन वर्ग के प्राणी—मनुष्य, पशु और वृक्ष—बने हैं। इन तीनों में मनुष्य ज्ञान-

युक्त और कर्म करने में समर्थ हैं, पशु ज्ञानहीन और कर्म करने में समर्थ हैं और वृक्ष ज्ञान तथा कर्म दोनों में असमर्थ हैं।

संसार का यह नियम है कि जो ज्ञान में और कर्म करने में पूर्ण होता है, वह ज्ञानशून्य का भोक्ता होता है। और ज्ञानशून्य उसका भोग्य होता है। इसी तरह जो कर्म कर सकता है, वह ज्ञान और कर्मशून्य का भोक्ता होता है और ज्ञान कर्मशून्य उसका भोग्य होता है इसके सिवा संसार का दूसरा यह भी नियम है कि पहिले भोग्य उत्पन्न होता है, तब भोक्ता पैदा होता है। जिस प्रकार पहिले दूध उत्पन्न हो जाता है तब बच्चा पैदा होता है, उसी तरह जब पशुओं के भोग्य वृक्ष पहिले उत्पन्न हो जाते हैं, तब पशु उत्पन्न होते हैं और जब मनुष्यों के भोग्य वृक्ष और पशु उत्पन्न हो जाते हैं तब दोनों का उपभोग करने वाला मनुष्य उत्पन्न होता है। इसी नियम के अनुसार इस चेतन सृष्टि में सबसे पहिले वृक्ष उत्पन्न हुए, वृक्षों के बाद पशु उत्पन्न हुए और पशुओं के बाद मनुष्य उत्पन्न हुए। वेद में चेतन सृष्टि की उत्पत्ति इसी क्रम से लिखी है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

सम्भृतं पृषदाज्यम्
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ।
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्य कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यांशूद्रो अजायत । (अ० ३१)

अर्थात् पहिले पृषद् नामक भक्ष्यान्न—वनस्पतियां—उत्पन्न हुईं * फिर उड़ने वाले, अरण्य में चरने वाले और ग्रामों में रहने वाले पशु उत्पन्न हुए और इनके बाद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अर्थात् मनुष्य उत्पन्न हुए। इस तरह से समस्त चेतनसृष्टि की उत्पत्ति हुई और स्वाभाविक स्थिति में स्थिर हुई। किन्तु सृष्टि उत्पत्ति का एक अस्वाभाविक क्रम और है, जिसका प्रयोग आपत्ति के समय ही होता है। इस नियम का सिद्धान्त यह है कि जो जिसको सताता है, वह उससे सताया जाता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार जिस समय समस्त मनुष्य समाज अनाचारी, अत्याचारी, कामुक, बेहिसाब संतति का विस्तार करने वाला, मांसाहारी और युद्धकारी होकर प्राणियों का संहार करता है और जिस समय मनुष्यसमाज जंगलों को काटकर पहाड़ों,

* पृषदिति भक्ष्यान्नम् । (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका)

समुद्रों और भौगर्भिक उथलापथलों को करके संसार में प्राकृतिक विप्लवों (Disturbances) को उत्पन्न करके भी प्राणियों का संहार कर देता है, उस समय सृष्टि के स्वाभाविक नियम बिगड़ जाते हैं और प्राणियों को कष्ट होता है अतः उन नियमों की रक्षा करने के लिए सृष्टि का नियामक अत्याचारी प्राणियों की वृद्धि कर देता है अर्थात् मांसाहारी मनुष्यों को बकरों और गौ आदिकों में और बकरों तथा गौ आदिकों को भेड़ियों और सिंह आदि हिंसक पशुओं में उत्पन्न कर देता है। इसी तरह अनेक पीड़ित प्राणियों को बीमारी के कृमियों (Germs) में और अनेक पीड़ा देने वालों को कीटपतंगों में उत्पन्न कर देता है। फल यह होता है कि जहां सीधे साधे मनुष्यों और पशुओं को अत्याचारी सताते हैं और बेजा तौर से अपना स्वार्थ साधन करते हैं, वहां पीड़ित प्राणी भी अपना बदला लेकर पीड़कों को भी पीड़ा पहुँचाते हैं। अर्थात् जिन्होंने जिनको मार कर खाया है, वे भी उनको मार कर खा जाते हैं+। यही सृष्टि के दोनों प्रशस्त क्रम हैं और इन्हीं क्रमों के अनुसार स्वाभाविक और आपत्कालिक सृष्टि उत्पन्न होती है। यह स्वाभाविक और आपत्कालिक क्रम अनादि हैं। जब-जब इस प्रकार के मनुष्य उत्पन्न होते हैं, तब-तब इसी प्रकार की सृष्टि होती है। इसी नियम के अनुसार इस वर्तमान सृष्टि में भी दोनों प्रकार के प्राणी उत्पन्न हुए। स्वाभाविक नियमानुसार खड़े, आड़े और उलटे शरीर की योनियां उत्पन्न हुईं और आपत्कालिक नियमानुसार मकड़ी, बक और बतक आदि थोड़ी सी ऐसी भी योनियां सृष्टयारम्भ ही में उत्पन्न हुईं, जो स्वभावतः दूसरे प्राणियों का नाश करने लगीं। परन्तु सृष्टयारम्भ के बहुत दिन बाद जब मनुष्यों में महा अत्याचारियों की अधिकता हुई, तब परमात्मा ने उन सिंहव्याघ्रादि हिंस्र पशुओं में भी प्राणियों को मारकर खाने वाले उत्पन्न कर दिये, जो पहिले मृतक मांस को खाकर केवल संसार की सफाई ही करते थे और जिंदा जानवर को मारकर नहीं खाते थे। यही इस वर्तमान चेतन सृष्टि की उत्पत्ति

+मां-स-भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ (मनु० ५।५५)

अर्थात् जिसका मैं यहां मांस खाता हूँ, वह परलोक में मेरा मांस खायगा। विद्वानों ने मांस शब्द की यही निरुक्ति की है।

का रहस्य है। किन्तु प्रश्न यह है कि प्रथम कही हुई जड़ सृष्टि के साथ इस चेतन सृष्टि का सम्बन्ध क्या है ?

जड़ सृष्टि से चेतन सृष्टि का सम्बन्ध

जड़ सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए हम लिख आये हैं कि हमारा यह सौर जगत् ही विराट् है। इस विराट् का शिर द्यौ अर्थात् सूर्यस्थानी आकाश है, नेत्र सूर्य है, प्राण हवा है, पेट विद्युत् और मेघ है और पैर पृथिवी है। पृथिवी से लेकर आकाश तक इस विराट् के खड़े आकार का यह रूपक मनुष्य के खड़े शरीर के साथ मिल जाता है अर्थात् मनुष्य का भी शिर द्यौ की ओर और पैर पृथिवी की ओर ही हैं और वह भी विराट् की तरह खड़े शरीरवाला ही है। इसका कारण विराट् और मनुष्य का पिता-पुत्र सम्बन्ध ही है। आदिम अमैथुनी सृष्टि विराट् से ही उत्पन्न होती है, इसीलिए मनु भगवान् कहते हैं कि मैं—मनुष्य—विराट् से ही उत्पन्न हुआ हूँ*। मनुष्य विराट् के ही आकार का है। इसीलिए बाइबिल में भी कहा गया है कि परमेश्वर ने मनुष्य को अपनी आकृति का बनाया। 'अङ्गादङ्गात्संभवसि' के अनुसार विराट् के प्रत्येक अङ्ग से मनुष्य के प्रत्येक अङ्ग की उत्पत्ति हुई है और दोनों के अङ्गों का आधार आधेय सम्बन्ध है। मनुष्य के शिर का आधार द्यौ है, अतः जब तक शिर द्यौ की ओर रहता है, तभी तक मनुष्य का मस्तिष्क और मेधा काम करती है। परन्तु ज्यों ही शिर द्यौ की ओर से हट जाता है, त्यों ही मस्तिष्क की मेधा अर्थात् ज्ञानशक्ति मन्द और अन्धकाराच्छन्न हो जाती है। यह बात हमको दो अनुभवों से ज्ञात होती है। एक तो जब हम अपने शिर को द्यौ की ओर से हटाकर लेट जाते हैं, तो निद्रा आने लगती है और ज्ञानशक्ति मन्द पड़ने लगती है, अर्थात् हम बिना द्यौ की ओर से शिर को हटाये सो नहीं सकते-बेहोश नहीं हो सकते। दूसरे जब हम कोई नशा पीते हैं और हमारी बुद्धि मन्द होने लगती है तब हमारे पैर लड़खड़ाने लगते हैं और हम गिरने लगते हैं अथवा पड़कर सो जाते हैं। अर्थात् हम बुद्धि खोकर और बेहोश होकर खड़े नहीं रह सकते। इन दोनों नित्य के अनुभवों से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो रही है कि हमारे शिर

* तपस्तप्त्वासृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः॥

और बुद्धि का द्यौलोक से आधाराधेय सम्बन्ध है। जिस प्रकार द्यौ का शिर के साथ सम्बन्ध है, उसी तरह सूर्य और नेत्रों का भी सम्बन्ध है। जब तक सूर्य रहता है, तभी तक नेत्र काम देते हैं, पर जब सूर्य अस्त हो जाता है और अन्धेरा हो जाता है, तब नेत्र भी अन्धे हो जाते हैं। संसार में जितना प्रकाश है, चाहे बिजली का हो अथवा अग्नि का, सब सूर्य से ही प्राप्त होता है। इसीलिए वेद में सूर्य और अग्नि को एक ही कहा गया है*। इस सूर्य रूपी अग्नि से ही बिजली, गैस और तेल के चिराग जलते हैं और चिरागों को जला कर ही सूर्य का स्थानापन्न प्रकाश उत्पन्न किया जाता है तब नेत्र काम देते हैं। कहने का मतलब यह है कि सूर्य और नेत्रों का भी आधाराधेय ही सम्बन्ध है। वायु और प्राणों का तथा प्राणों और बाहुबलों का भी वही सम्बन्ध है। यदि संसार से वायु खींच ली जाय, तो हम एक बार भी सांस नहीं ले सकते और बिना प्राण के थोड़ा भी बल प्राप्त नहीं कर सकते। इसीलिए 'प्राणो वै बलं' कहा गया है। प्राण और बल का सम्बन्ध उस समय अधिक स्पष्ट होता है, जब काम करते-करते मनुष्य की दम उखड़ जाती है। दम उखड़ते ही मनुष्य निर्बल हो जाता है, इसलिए वायु और प्राण का तथा प्राण और बल का भी आधाराधेय ही सम्बन्ध सिद्ध होता है। पृथिवी और पैरों का जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह प्रत्यक्ष ही है। अर्थात् बिना पृथिवी के कोई भी खड़ा नहीं हो सकता। कहने का मतलब यह है कि हमारे जितने अङ्ग-उपाङ्ग हैं, वे सब विराट् के अङ्गों के साथ नत्थी हैं और उन्हीं के सहारे स्थिर हैं।

हम लिख आये हैं कि मनुष्य को यह शरीर बुद्धिपूर्वक सात्त्विक कर्म करने से ही मिला है। अर्थात् बुद्धि के सदुपयोग ही से वह विराट् की आकृति का बन सका है और इस प्रकार विराट् के प्रत्येक अंग से सहयोग प्राप्त कर सका है। किन्तु जिन मनुष्यों ने बुद्धि का उचित उपयोग नहीं किया, केवल अन्ध परम्परा से कुछ न कुछ करते रहे हैं, उनकी बुद्धि का सदर मुकाम, शिर, द्यौलोक की ओर से हटाकर क्षितिज की ओर आड़ा कर दिया गया है और सब पशु बना दिये गये हैं। बुलबुल से लेकर शुतरमुर्ग

* अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः, ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः। (यजु० ३।९)

तक, मछली से लेकर मगर तक, हाथी से लेकर लीख तक और बन्दर से लेकर वनमनुष्य (गौरिला) तक जितने पशु कहलाने वाले प्राणी हैं, सब आड़े शरीर वाले ही हैं। इनमें से किसी का शिर आकाश की ओर नहीं है। हां; ये चलते-फिरते अवश्य हैं। इससे ज्ञात होता है कि इनकी कर्मेन्द्रियों का ह्रास नहीं हुआ। इसका कारण यही है कि इन्होंने जान बूझकर अनाचार नहीं किया। परन्तु जिन मनुष्यों ने प्रमाद और अभिमान से जान बूझकर दुष्कर्म किये हैं, उनकी कर्मेन्द्रियां भी छीन ली गई हैं और उनकी ज्ञानेन्द्रियों का सदर मुकाम 'शिर' जमीन में गाड़ दिया गया है और सब वृक्ष बना दिये गये हैं+। इसीलिए न तो वे कुछ ज्ञान ही रखते हैं और न इधर उधर चल फिर ही सकते हैं। इसी त्रिगुणात्मक सृष्टि के विषय में कपिलमुनि कहते हैं कि—

ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला तमोविशाला मूलतः मध्ये रजोविशाला।
आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः।
आब्रह्मस्तम्बपर्यंतं तत्कृते सृष्टिराविवेकात्। (सांख्यदर्शन)

अर्थात् सतोगुणी कर्म करने वाले ऊपर की ओर जाते हैं, रजोगुणी मध्य की ओर जाते हैं और तमोगुणी नीचे की ओर जाते हैं। इस तरह से इन योनियों का एक दूसरी में जाने का चक्कर लगा ही रहता है। परन्तु ब्रह्मा अर्थात् मनुष्यजाति के आदि पितामह से लेकर स्तम्ब अर्थात् वृक्षों तक विवेक करने से यह चक्कर छूट जाता है। इन सूत्रों में मनुष्य से लेकर वृक्षों तक के चक्कर को बतला कर स्पष्ट कर दिया गया है कि सतोगुणी मनुष्य खड़े शरीर वाले, रजोगुणी पशु आड़े शरीर वाले और तमोगुणी वृक्ष उलटे शरीर वाले हैं और अपने-अपने कर्मों के अनुसार विराट् अर्थात् जड़ सृष्टि के साथ अनुकूल अथवा प्रतिकूल सम्बन्ध रखते हैं।

चेतन सृष्टि का पारस्परिक सम्बन्ध

जिस प्रकार प्राणियों का जड़ सृष्टि के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसी प्रकार उनका आपस में भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम लिख आये हैं कि परमात्मा जीवों के कर्मानुसार प्राणियों के शरीर बनाता है और दण्ड-भोग के

+इमर्सन नामी विद्वान् भी कहता है कि 'Trees are imperfect men' अर्थात् वृक्ष अपूर्ण मनुष्य हैं।

साथ-साथ दुःख देने वाले से दुःख प्राप्त को प्रतिफल भी दिलवाता है । यह प्रतिफल एक प्रकार का ऋण होता है। यही कारण है कि अनाचारियों और अत्याचारियों की ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का संकोच करके वह उनको इस प्रकार का बना देता है कि वे आसानी से उत्कृष्टेन्द्रिय प्राणियों के काबू में आ जाते हैं और उनका भोग्य बन कर ऋण चुकाते रहते हैं। यही कारण है कि भोग्य पहिले और भोक्ता उनके बाद होते हैं।

हम लिख आये हैं कि आदि सृष्टि में पहिले वृक्ष, फिर पशु और पशुओं के बाद मनुष्य हुए । इसका कारण यही है कि पशुओं और वृक्षों ने पूर्व जन्म में अपने मनुष्य शरीर द्वारा अन्य मनुष्यों को नुकसान पहुंचाया है, इसलिए मनुष्यों की अपेक्षा हीनेन्द्रिय होकर और उनके काबू में आकर मनुष्यों का ऋण चुका रहे हैं और वृक्षों ने अपने पूर्वकालीन मनुष्य शरीर द्वारा पशुओं और मनुष्यों दोनों को नुकसान पहुँचाया है, इसलिए वे पशुओं और मनुष्यों के काबू में आकर उनके उपयोग में आ रहे हैं और ऋण चुका रहे हैं। परन्तु पशुओं ने पूर्वजन्म में वृक्ष शरीरधारी पूर्वजन्म के पशुओं को नुकसान नहीं पहुँचाया, इसलिए वे इस जन्म में वृक्षों को कुछ भी नहीं देते, प्रत्युत वृक्षों से लेते हैं। इस तरह से वृक्ष और पशु मनुष्यों के ऋणी हैं पर मनुष्य इन दोनों में किसी का ऋणी नहीं है। इसी तरह पशु भी मनुष्यों के ऋणी हैं, पर वृक्षों के ऋणी नहीं हैं। परन्तु वृक्ष पशुओं तथा मनुष्यों दोनों के ऋणी हैं और उनका ऋणी कोई नहीं है । इसीलिए सब प्राणी परस्पर बिना किसी रोक-टोक के अपना-अपना देना पावना देते और लेते हैं। अर्थात् सब एक दूसरे की सहायता से जीते हैं । हम यहां कतिपय प्राणियों का वर्णन करके दिखलाते हैं कि वे किस प्रकार अपने से उत्कृष्टेन्द्रिय मनुष्य की सेवा कर रहे है।

गाय, भैंस, बकरी और भेड़ी दूध देकर, भेड़ और बकरियां वस्त्रों के लिए ऊन देकर, घोड़े, बैल, गधे, ऊंट, खच्चर और हाथी आदि सवारी तथा बारबरदारी का काम देकर और कुत्ते चौकी पहरा तथा एक अच्छे साथी का काम देकर मनुष्य की सेवा कर रहे हैं। जिस प्रकार यह प्राणी अनेक प्रकार के पदार्थों को देकर मनुष्य का ऋण चुका रहे हैं, उसी तरह सिंह, व्याघ्र शृगाल, बिल्ली और गीध आदि मांसाहारी प्राणी मृतक शरीरों का मांस खाकर सफाई का काम कर रहे हैं। यदि ये प्राणी मृतक प्राणियों को खाकर सफाई

न करें तो मुर्दों के पहाड़ लग जायं और उनकी सड़ांद से मनुष्यों का जीना दुर्लभ हो जाय। इसी तरह सुअर, मुर्गे, चील, कौवे और चिउंटी आदि भी मल और सड़े मांस को खाकर और पृथिवी को पवित्र बना कर मनुष्य की सेवा कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त मछलियां तथा अन्य सभी जलजन्तु पानी को स्वच्छ करते हैं। समुद्र में यदि मछलियां न हों, तो उसका पानी मलिनता के कारण इतना स्थूल हो जाय कि वह सूर्य ताप से तप्त ही न हो और वहां बादल ही न बन सकें। 'अहिंसाधर्मप्रकाश' के उत्तरार्ध (पृष्ठ ७६) में लिखा है कि तुर्किस्तान के आसपास रक्तसमुद्र में मछलियां नहीं हैं, इसलिए वहां का पानी बहुत ही गंदा हो गया है और वहां वर्षा एकदम बन्द हो गई है। जिस प्रकार जलजन्तु जल को स्वच्छ करते हैं, उसी प्रकार वायु में उड़नेवाले पक्षी और कृमि भी वायु के मल को खा जाते हैं और वायु को शुद्ध कर देते हैं। उसी तरह सर्प और बिच्छू आदि विषैले प्राणी भी जल, स्थल और वायु के विष को खा जाते हैं और संसार को विषहीन बनाये रखते हैं।

इस सेवा के अतिरिक्त अनेकों पशु, पक्षी और कीड़े मनुष्य को वैज्ञानिक विषयों में भी बड़ी सहायता देते हैं। भेड़ें ऐसे स्थान में नहीं बैठतीं, जहां जमीन के नीचे पोल होती है। यदि पुराना कुवां दीवार के गिर जाने से दब जाता है, तो भेड़ें उतनी गोल जमीन को छोड़ कर बैठती हैं। इससे भूगर्भ-विद्यासम्बन्धी अनेकों बातें जानी जाती हैं। इसी तरह जोंक (जलौका) बड़े-बड़े तूफानों को बतला देती है। आप एक गिलास में पानी भरिये और एक जोंक को उसमें डाल दीजिये। यदि तूफान आने वाला है, तो जोंक पेंदी में बैठ जायगी और यदि तूफान आनेवाला नहीं है तो जोंक पानी के ऊपर ही तैरती रहेगी। किन्तु यदि तूफान अभी दूर है और देर में आनेवाला है तो जोंक पानी के बीचोंबीच निकलती तड़पड़ाती रहेगी। इसके अतिरिक्त जोंक खराब खून के निकालने का भी काम करती है। इसीतरह अग्निप्रपात, भूकम्प, तूफान और वर्षा आने के पूर्व ही छोटी छोटी चिउंटियां अपने-अपने अण्डों को लेकर भागती हैं, जिससे वर्षा का ज्ञान होता है। हिमालय के पक्षी बर्फ पड़ने की सूचना देते हैं और खंजन पक्षी इस बात को हर साल यहां तक पहुँचाता है। इसी तरह मंडूक भी पानी सूखने की सूचना देते हैं। एक तालाब का पानी जब सूख जाता है, तो वे दूसरे तालाब को चले जाते हैं और दूरस्थित जल का रास्ता अपने आप जान लेते हैं, तथा जिस पानी में रहते हैं

उस पानी के सूखने की खबर भी वे पहले से ही पा जाते हैं। इन बातों से मनुष्य लाभ उठा सकता है। उसी तरह कबूतर-पक्षी तार और डाक का काम देते हैं। जहां तार चिट्ठी नहीं जा सकती, वहां कबूतर ही खबर पहुँचाते हैं।

जिस प्रकार पशुपक्षी मनुष्य की नाना प्रकार से सेवा करते हैं, उसी तरह वृक्ष भी फलफूल देकर, औषधियां देकर और वर्षा आदि अनेकों प्रकार के अमूल्य साधनों को देकर मनुष्य की सेवा करते हैं। ये वृक्ष मनुष्यों को ही नहीं प्रत्युत नाना प्रकार के फल, फूल, तृण और अन्न आदि देकर पशुपक्षियों की भी सेवा करते हैं। कहने का मतलब यह कि समस्त हीनाङ्ग प्राणी अपने से उत्तमाङ्ग प्राणी की सेवा करके उसके ऋण से मुक्त होते हैं। यह क्रम हमको इन तीन ही प्रधान थोकों में नहीं दिखलाई पड़ता, प्रत्युत वह इन तीनों महाविभागों के अन्तर्गत अवांतर उपविभागों में भी दिखलाई पड़ता है। जिस प्रकार एक प्रतिभावान् पुरुष के प्रभाव में साधारण बुद्धि के अनेकों आदमी आ जाते हैं और स्वाभाविक ही प्रतिभावान् का आदर और सत्कार करने लगते हैं, उसी प्रकार पशुओं और वृक्षों के अन्तर्गत उनकी समस्त उपशाखाएं भी एक-दूसरी की सहायता देती हैं। सिंहादि मांसाहारियों को अपना मांस देकर यदि दूसरे प्राणी सहायता न दें, तो क्या एक दिन भी हिंसक जन्तु संसार में रह सकते हैं। इसी तरह दीमक यदि घर बनाकर सर्प को न दे और कौवा यदि कोयल के बच्चों की परवरिश न कर दे, तो क्या संसार में सर्पों और कोयलों का कहीं पता मिल सकता है। लोग कहते हैं कि यदि बन्दर संसार में न रहें, तो घोड़ों का नाम निशान ही मिट जाय। क्योंकि घोड़ों के असाध्य रोग बन्दरों के सहवास से अच्छे हो जाते हैं। इसी से 'घोड़े की बला बन्दर के शिर' का मसला प्रचलित है। मसला ही प्रचलित नहीं है, किंतु हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि बड़े बड़े राजाओं के अस्तबलों में घोड़ों के साथ बन्दर भी बंधे रहते हैं। इससे कह सकते हैं कि यह मसला असत्य नहीं है।

जिस प्रकार पशुओं के समस्त अवांतर भेद परस्पर एक दूसरे की सेवा कर रहे हैं, उसी तरह वृक्षों की अवांतर योनियां परस्पर सहायता कर रही हैं। यह बात हमको लताओं के देखने से बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट होती है। हम देखते हैं कि प्रायः सभी लताएं वृक्षों के सहारे रहती हैं। यहां तक कि नागबेल आदि लताओं की तो परवरिश ही दूसरे वृक्षों पर होती है और बबूल वृक्ष की सहायता से तो ऊसर जमीन में भी घास होने लगती है। कहने का मतलब

यह कि समस्त अवांतर योनियां परस्पर सहाय्य सहायक और अपने से उच्च-विभागों का ऋण चुका कर सेवा करती हैं और यह बात घोषणापूर्वक कहती है कि इस सृष्टि में एक भी ऐसी योनि नहीं है, जो निरर्थक हो और उसके सार्थक होने का कारण न हो।

चेतन सृष्टि की इस सुसङ्गठित बनावट से और वह सृष्टि के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्ध से प्रतीत होता है कि यह संसार एक बहुत बड़ा यन्त्र है, जिस का सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, वायु और जलादि जड़ सृष्टि ढांचा है और उस ढांचे में जड़ी हुई समस्त चेतन योनियां उसके संश्लिष्ट पुरजे हैं। इस यन्त्र के कारीगर ने इसमें एक भी ऐसा पुरजा नहीं लगाया, जो बेमतलब और अकारण हो इसलिए इसका उपयोग बहुत ही समझ बूझकर करना चाहिये।

अध्ययन और विचार

मोक्ष से सम्बन्ध रखनेवाले इन उपर्युक्त समस्त मौलिक सिद्धान्तों का सुनना और उन पर ध्यान से विचार करना आर्य-सभ्यता का सबसे प्रधान लक्षण है। यही कारण है कि एक आर्यबालक आचार्यकुल में जाकर यज्ञोपवीत के दिन से ही सन्ध्योपासन के समय 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' का पाठ नित्य पढ़ता है और गुरुमुख से नित्य इनका अर्थ सुनता है कि इस सूर्यचन्द्रादि सृष्टि को परमात्मा ने उसी तरह बनाया है, जिस तरह इसके पूर्व भी वह अनेकों बार बना चुका था। इस नित्य के श्रवणाध्ययन से धीरे-धीरे विद्यार्थी को सृष्टि के कारणों और उत्पत्तिक्रमों का ज्ञान होने लगता है और हमने गत पृष्ठों में जिस वैदिक, आर्ष और आर्य रीति से सृष्टि के कारणों और उसके उत्पत्तिक्रमों का वर्णन किया है, उस रीति से सृष्टि का रहस्य खुल जाता है और उसके हृदय में तीन बातें निर्भ्रान्तरुप से अपना घर कर लेती हैं। पहिली बात तो उसके मन में यह जम जाती है कि इस सृष्टि को अनियमित, अस्वाभाविक और क्षुभित करनेवाला केवल मनुष्य ही है। जब तक मनुष्य उत्पन्न नहीं होता तब तक सृष्टि में कुछ अस्वाभाविकता अथवा पाप नहीं होता। प्रत्युत सब प्राणी सृष्टि के नियमों में बंधे हुए अपना-अपना नियमित काम करते हैं और कोई किसी को दुःख नही देता। किन्तु मनुष्य के उत्पन्न होते ही संसार में अस्वाभाविकता आ जाती है ×।

× गोयथ (Goeth) भी कहता है कि 'All the prospect bleases, only man is vile' अर्थात् समस्त बुराइयों की जड़ मनुष्य ही है।

इसका कारण मनुष्य का ज्ञान-स्वातन्त्र्य ही है। यह अपने ज्ञान-स्वातन्त्र्य से सृष्टि के नियमों का भंग करता है और समस्त प्राणियों को दुःखी कर देता है। दूसरी बात उसके मन में यह बैठ जाती है कि मनुष्य के अतिरिक्त जितने प्राणी हैं सब पूर्वजन्म के मनुष्य ही हैं। मनुष्यों ने अपने ज्ञानस्वातन्त्र्य से जो सृष्टिनियमों के विरुद्ध कर्म किया है, उसके फलभोगार्थ उनको ये शरीर मिले हैं। क्योंकि इन प्राणियों के शरीरों की बनावट बिलकुल ही मनुष्य के शरीरों के साथ मिलती-जुलती है, अन्तर केवल इतना ही है कि इन्होंने जिस-जिस अङ्ग का दुरुपयोग किया है, वह वह अङ्ग मन्द हो गया है और अब ये खड़े शरीरवाले न रहकर आड़े और उलटे शरीरवाले हो गये हैं। तीसरी बात उसके मन में यह स्थिर हो जाती है कि जब मनुष्य ही अपने दुष्कर्मों के कारण पशु, पक्षी और वृक्ष होकर नाना प्रकार के कष्ट भोगता है, तो अब ऐसे कर्म न करना चाहिये, जिससे पशु अथवा वृक्ष होना पड़े, किन्तु ऐसे कर्म करना चाहिये कि जिससे इन पशुओं और वृक्षों के मूल कारण मनुष्यशरीर ही को धारण न करना पड़े।

इसके सिवा मनुष्यशरीर में भी तो सब दुःख ही भरा है। रोग, दोष, हानि, बिछोह, भय, चिन्ता और जरामरण आदि अनिवार्य कष्टों से छुटकारा इसमें भी तो नहीं है। इनमें भी राजा और सृष्टि शासनकी अनिवार्य परतन्त्रता भोगनी पड़ती हैं। इसलिए अब इन शरीरों के फेर से ही निकल जाना चाहिए और आज से अब ऐसे कर्म करना चाहिये, जिनसे भविष्य में न तो स्वयं शरीर धारण करना पड़े और न अन्य प्राणियों को ही कष्ट हो, प्रत्युत एक ऐसा मोक्षमार्ग बन जाय कि जिसके द्वारा हमको भी मोक्ष मिल जाय और वे प्राणी भी मनुष्यशरीर में आकर मोक्षमार्गी बन जायँ। किन्तु प्रायः लोगों की ओर से इस कर्मयोनि और भोगयोनि के पुनर्जन्मसम्बन्धी सिद्धान्त पर यह आपत्ति की जाती है कि जब मनुष्य ही कर्मयोनि है और वही कर्मवश कर्मफल भोगने के लिए अन्य भोगयोनियों में आता है और जब वहां एक छोटे से मलिन पानी के कुंड में कृमिरूप से इतनी अधिक संख्या में मौजूद है, जो संख्या वर्तमान पौने दो अरब मनुष्यों से भी अधिक है तो क्या यह संभव है कि इतने अधिक मनुष्य कभी रहे हों, जिनकी संख्या वर्तमान समस्त भोग-योनियों से भी अधिक रही हो और ये समस्त भोगयोनियां मनुष्य ही रही हों। इस आपत्ति का उत्तर बहुत ही सरल है।

इस कुदरत में देखते हैं कि बहुत ही छोटी सी गलती की सजा बहुत ही अधिक मिलती है, यद्यपि गलती को छोटा नहीं कहा जा सकता। रास्ता चलते समय जरासा चूक जाने पर मनुष्य गिर जाता है और अपने हाथ पैर तोड़ बैठता है। इसी तरह एक वेश्यागामी जरा सा चूकने पर ऐसी-ऐसी व्याधियों में पड़ जाता है कि जिनसे उसका सारा जीवन ही नष्ट हो जाता है। थोड़े पाप में बड़ी सजा के इस नियमानुसार मनुष्य जब पाप करके नीच योनियों में जाता है, तो उसे एक-एक योनि में कई-कई बार जन्म लेना पड़ता है और समस्त योनियों का चक्कर लगा करके ही मनुष्ययोनि में आने का मौका मिलता है। इस बीच में यदि किसी दुष्ट द्वारा अकाल ही में फिर मारा जाता है, तो उस अत्याचारी मनुष्य से बदला लेने के लिये आपत्काल के ईश्वरी नियमानुसार किसी हिंस्र योनि में जन्म लेकर अपने कर्मों को भी भोगता है और उस दुष्ट का भी संहार करता है। इसके अतिरिक्त जब सारा मनुष्यसमाज अत्याचारी हो जाता है और बेहिसाब प्राणियों का नाश कर देता है, तो नवीन उत्पन्न होनेवालों के लिए मातापिता ही का अभाव हो जाता है।

फल यह होता है कि पैदा होनेवाले बचे हुए थोड़े से ही माता पिताओं के द्वारा बहुत बड़ी संख्या में जन्मग्रहण करते हैं और आहारशून्यता से अकाल में मरते हैं और फिर उन्हीं योनियों में उत्पन्न होते हैं। कहने का मतलब यह कि मनुष्ययोनि से हटने पर प्राणी बड़े चक्कर में पड़ जाता है और वहां से लौटना ही कठिन हो जाता है। इधर मनुष्य बात बात में गलती करता है और छोटी गलती में बड़ी सजा के नियमानुसार कर्मफल भोगने के लिये दूसरी योनियों में जल्दी-जल्दी जाता है और वहां देर तक रहता है। परिणाम यह होता है कि आमद कम और खर्च अधिक होने के कारण पशुसमुदाय की वृद्धि और मनुष्यसमुदाय की न्यूनता बनी रहती है। इस बात को एक दृष्टांत से समझना चाहिये। कल्पना कीजिये कि आपने कुछ कपड़े धोबी को धोने के लिये दिये, पर वह जल्दी से धोकर न लाया और आपको दूसरे कपड़े फिर देने पड़े। किंतु फिर भी धुलकर जल्दी से न आये और फिर देने पड़े। इस तरह दो चार बार ही में घर से सब कपड़े धोबी के यहां जमा हो गये। अब कुछ दिन में वह चार छै कपड़े लाया, पर तब तक आपने और भी दश कपड़े मैले कर डाले और धोबी को दे दिये। फल यह हुआ कि आपके घर से धोबी के घर में कपड़े अधिक हो गये। जो हाल इस उदाहरण का है, वही मनुष्य-

योनि की कमी और अन्य योनियों की अधिकता का है। यह सिलसिला अनादि काल से चला आता है और अनन्त काल पर्यन्त चला जायगा। इसलिए उपर्युक्त शंका कर्मयोनि और भोगयोनि के सिद्धांत को असिद्ध नहीं कर सकती और न इस बात को हटा सकती है कि कर्मयोनि मनुष्य ही इन भोगयोनियों में जाता है।

आर्यों ने अपने अध्ययन, अध्यापन और श्रवण-मनन के द्वारा अपनी सभ्यता के मूलाधार मोक्ष के प्रशस्त मार्ग का इस प्रकार निश्चय किया है। उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया है कि अज्ञान और अभिमान से जो काम किये जाते हैं, उनसे प्राणियों को दुःख होता है और उस दुःख का प्रतिफल देने के लिए नाना प्रकार की योनियों में जन्म धारण करना पड़ता है, इसलिए किसी भी प्राणी को चाहे वह मनुष्य, पशुपक्षी, कीटपतङ्ग, तृणपल्लव आदि कोई भी हो कभी भी कष्ट न देना चाहिये। परन्तु लोग कहते हैं कि जब यह सिद्ध हो चुका कि समस्त पशुपक्षी, कीटपतङ्ग और तृणपल्लव पूर्वजन्म के अपराधी हैं—मनुष्य के ऋणी हैं—तब फिर इनके सुखदुःख और हानिलाभ की बात सोचना ही बेकार है। हम जिस तरह चाहें, उनका उपयोग कर सकते हैं और अपना ऋण ब्याज के सहित वसूल कर सकते हैं। इस वसूली में यदि उनका वध भी करना पड़े तो कोई पाप की बात नहीं है।

सुनने में ये बातें किसी अंश में ठीक प्रतीत होती हैं पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इस प्रकार का आरोप करनेवालों ने न तो अपराध और दण्डविधान ही पर ध्यान दिया है और न ऋण और ऋणदाता पर ही। अपराध और दण्डविधान वादी और प्रतिवादी के अधीन नहीं है, प्रत्युत वे न्यायाधीश के अधीन हैं। प्रत्येक अपराधी अपने वादी का अपराधी नहीं है, प्रत्युत वह उस विधान का अपराधी है जो न्यायाधीश की ओर से स्थिर किया गया है। इसलिए किसी वादी को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने प्रतिवादी को अपनी मर्जी से कुछ भी कष्ट दे। यह अधिकार न्यायाधीश ही का है कि वह जो कुछ दण्ड-जुर्माना करे, उसमें से अमुक भाग वादी को भी दिला दे, पर वादी अपनी मर्जी से कुछ भी नहीं ले सकता। इसी तरह ऋणदाता भी ऋणी से तक़ाजा ही कर सकता है, उसे दण्ड नहीं दे सकता और न उसको मारकर उसके चमड़े से अपना रुपया ही वसूल कर सकता है। ऐसी दशा में कोई भी मनुष्य किसी भी पशु आदि प्राणी को न तो कष्ट ही दे सकता है और न

उसका वध ही कर सकता है। इसलिए मनुष्य को चाहिये कि वह विना किसी प्राणी को कुछ भी कष्ट दिये, जो कुछ काम लेते बने वह ले ले। काम लेने का सबसे उत्तम नियम इस सृष्टि के नियामक ने खुद ही बना दिया है। उसने प्रत्येक प्राणी की जाति, आयु और भोगों को नियत करके बतला दिया है कि जिस प्राणी से तुम काम लेना चाहो, उसकी जाति के अनुसार उसको पूर्ण आयु जीने दो और उसकी जाति के अनुसार उसका जो कुछ भोग नियत हो वह भोगने के लिए रुकावट पैदा न करो, किन्तु उसके भोगों को जुटाने का बन्दोबस्त करो।

जाति आयु और भोग

योगशास्त्र में लिखा है कि 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' अर्थात् पूर्वकर्मानुसार प्राणियों को जाति, आयु और भोग मिलते हैं*। प्रत्येक प्राणी किसी न किसी जाति का होता है। जाति की पहचान बतलाते हुए न्यायशास्त्र में गौतम मुनि कहते हैं कि 'समानप्रसवात्मिका जातिः' अर्थात् जिसका समान प्रसव हो वह जाति है। समान प्रसव वह कहलाता है कि जिसके संयोग से वंश चलता हो। गाय और बैल के संयोग से वंश चलता है इसलिये वे दोनों एक जाति के हैं, परन्तु घोड़ी और कुत्ते से वंश नहीं चलता, इसलिए वे दोनों एक जाति के नहीं हैं, इस जाति की दूसरी पहिचान आयु है। जिन जिन प्राणियों का समान प्रसव है, उनकी आयु भी समान ही होती है। जितने दिन प्रायः गाय जीती है, उतने ही दिन प्रायः बैल भी जीता है, पर जितने दिन घोड़ी जीती है, उतने ही दिन कुत्ता नहीं जीता।

जाति की तीसरी पहिचान भोग है जिनका समान प्रसव और समान आयु है, उनके भोग भी समान ही होते हैं। गाय और बैल का समान प्रसव और समान आयु है, इसलिये दोनों के भोग भी—आहारविहार भी—समान ही हैं।

* कुछ लोग जाति का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि, आयु का अर्थ गणित ज्योतिष के अनुसार वर्ष, मास, दिन आदि और भोग का अर्थ सुख दुःख अर्थात् प्रारब्ध आदि करते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि यहां समान प्रसव से स्पष्ट कर दिया गया है कि ब्राह्मण और क्षत्राणी का समान प्रसव होता है, इसलिए दोनों एक ही जाति के हैं, अलग नहीं। इसी तरह आयु और भोग भी भिन्न-भिन्न योनियों से ही सम्बन्ध रखते हैं, घड़ी, पल अथवा प्रारब्ध आदि से नहीं।

परन्तु घोड़ी और कुत्ते का जहां समान प्रसव और समान आयु नहीं है, वहां भोग भी समान नहीं है। घोड़ी घास खाती है और कुत्ता घास नहीं खाता, किन्तु मांस खाता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक जाति का प्रसव, आयु और भोग एक समान ही होता है और इन्हीं तीनों गुणों से प्रत्येक योनि पहिचानी जाती है। इसलिए मनुष्यों को उचित है कि वे जिस प्राणी से काम लेना चाहें, उसकी जाति के अनुसार उसके भोगों को देते हुए उसकी पूर्ण आयु तक जीने का मौका दें।

जिस प्रकार किसी सजा पाए हुए कैदी के लिए तीन बातें नियत होती हैं, उसी प्रकार प्राणियों को जाति, आयु और भोग दिये गये हैं। कैदी के लिए लिखा होता है कि यह अमुक श्रेणी की जेल में जाय, अमुक आहारविहार के साथ अमुक काम करे और अमुक समय तक वहां रहे। यहां कैदी की श्रेणी ही प्राणियों की जाति है, कैदी का काम और आहारविहार ही प्राणियों के भोग हैं। और कैदी की मियाद ही प्राणियों की आयु है। जिस प्रकार कैदी को उसके भोग देकर ही इतने दिन तक अमुक जेल में रखा जा सकता है, उसी प्रकार इन समस्त प्राणियों को भी उनके भोग देकर ही उनसे उनकी आयु भर काम लिया जा सकता है। यदि जेल दारोगा कैदी के भोग और स्वास्थ्य अर्थात् आयु में विघ्न डाले, तो वह अपराधी समझा जाता है। क्योंकि राजा का यह अभिप्राय नहीं है कि कैदी मार डाला जाय।

इसी प्रकार वे मनुष्य जो प्राणियों को दुःख देते हैं, परमात्मा के न्याय के विरुद्ध करते हैं, अतएव पापी हैं। जैसे अन्य प्राणियों के भोग और आयु में बाधा पहुंचाना पाप है, वैसे ही मनुष्यों की समानता में भी बाधा पहुँचाना पाप है। जिस प्रकार एक समान प्रसव जाति समान आयु को प्राप्त करके समान भोगों को भोगती है, उसी प्रकार हम मनुष्यों को भी समझना चाहिये कि समस्त मनुष्य भी समान प्रसव और समान आयु वाले हैं, इसलिए उनके भी भोग समान ही होने चाहियें।

जो कायदा समान प्रसव, समान आयु और समान भोग वाले मनुष्यों और प्राणियों के अपराधों और दण्डों तथा जेलों और सजाओं का है, वही कायदा ऋणी और धनी के लेन-देन का भी है। मनुष्य जब किसी का ऋणी होता है, तो महाजन भी उसको अपने घर में रखकर और उससे काम कराकर ही अपना रुपया वसूल करता है और ऋणी को जिन-जिन पदार्थों की आव-

श्यकता होती है, वे पदार्थ महाजन ही देता है। क्योंकि वह जानता है कि बिना रुपया दिये वह भूख से मर जायगा या अन्य दुःखों से घबराकर कहीं चला जायगा, तो मेरा रुपया डूब जायगा। इसलिये यदि मनुष्यों का मनुष्यों, पशुओं और वृक्षों से लेना है, तो उन्हें हर प्रकार से सुखी रखना चाहिये। सुखी रखने का कायदा सृष्टि ने बतला दिया है कि प्रत्येक प्राणी की जाति, आयु और भोग नियत हैं, अतः तुम इसके भोगों को देते हुए और उसकी पूर्ण आयु तक रक्षा करते हुए अपना ऋण लेते चले जाओ और ऐसा प्रबन्ध करो कि कभी किसी प्राणी की अकाल मृत्यु न हो।

इस पर प्रायः लोग कहते हैं कि यदि परमेश्वर को किसी की अकाल मृत्यु मंजूर न होती, तो वह वर्षाऋतु में पानी बरसाकर, जंगल में अग्नि जलाकर और आंधी तूफान को उत्पन्न करके क्यों करोड़ों प्राणियों को अकाल में ही मारता और क्यों व्याघ्रादि हिंस्र प्राणियों को उत्पन्न करके लाखों प्राणियों का अकाल में ही संहार करता ? इसका उत्तर बहुत ही सरल है। हम गत पृष्ठों में कर्मानुसार चेतन सृष्टि के उत्पत्तिक्रमों का वर्णन करते हुए दो प्रकार के सृष्ट्युत्पत्तिक्रमों का वर्णन कर आये हैं। पहिला क्रम सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के अनुसार खड़ी, आड़ी और उलटी सृष्टि की उत्पत्ति का है और दूसरा आपत्कालक्रम है, जो सृष्टि की अस्वाभाविकता को रोकने के लिए काम में लाया जाता है।

अर्थात् जब मनुष्य अपनी हिंसावृत्ति से प्राणियों का संहार यहां तक बढ़ा देता है कि उनको अपने कर्मफलों के भोगने के लिए पूरी आयु तक जीना भी कठिन हो जाता है और जब मनुष्यसमाज जंगलों को काटकर, पहाड़ों को तोड़कर, समुद्रों को हटाकर और भौगर्भिक पदार्थों को निकालकर सृष्टि में व्यतिक्रम उत्पन्न कर देता है, जिससे सृष्टि के नियमों में बाधा पड़ती है और प्राणियों को कष्ट होता है, तब परमात्मा उन अत्याचारी मनुष्यों को कीड़े मकोड़े और कीटपतंग बनाकर उन्हीं वर्षा, अग्नि और तूफान आदि प्राकृतिक घटनाओं के द्वारा प्रतिवर्ष मार देता है, जिनको उन्होंने जंगल आदि काटकर बिगाड़ा था। इसी तरह मांसाहारी मनुष्यों को पशु बनाकर और पीड़ित पशुओं को हिंस्र प्राणी बना देता है और उन्हें अत्याचार का प्रतिफल दिला देता है।

जिस प्रकार ये दोनों प्रबन्ध होते हैं उसी तरह जब प्राणियों का नाश

इतना अधिक हो जाता है कि जीवों को जन्म धारण करने के लिए पूरे माता-पिताओं की भी कमी हो जाती है तब इन थोड़े से ही मातापिताओं में ही अधिक सन्तान उत्पन्न होने लग जाती है। परन्तु जब थोड़े से मातापिता भी सब जीवों को उत्पन्न नहीं कर सकते तब परमेश्वर उस अत्याचारी मनुष्य-समाज के नाश करने के लिए उन्हीं आनेवाले प्राणियों को ऐसा जहरीला बना देता है कि वे नाना प्रकार की बीमारी के जर्म्स बनकर मनुष्यों का नाश कर देते हैं और ऐसे वृक्षों को भी उत्पन्न कर देता है, जो मनुष्यादि प्राणियों को पकड़-पकड़कर खा जाते हैं और पशुओं तथा जंगलों की रक्षा कर लेते हैं। यह सारा प्रबन्ध सृष्टि के नियमों की रक्षा करने के लिए किया जाता है। सृष्टि के ये नियम अनादि हैं। क्योंकि पूर्व सृष्टि के अत्याचारियों को प्रतिफल दिलाने के लिए परमात्मा आदिसृष्टि में भी मकड़ी और बत्तकों की भांति कुछ ऐसी योनियां उत्पन्न कर देता है, जो स्वभावतः भी प्राणियों का नाश करती हैं।

इसलिए मनुष्य को यह उचित नहीं है कि वह परमेश्वर के अपराधियों को अपने अपराधी समझकर उन्हें सताए। जिस प्रकार कोई अपराधी या ऋणी न्यायाधीश के ही हुक्म से सजा पा सकता है, वादी की ओर से नहीं, उसी प्रकार वर्षा, आग, आंधी और भूकम्प के द्वारा अथवा सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र पशुओं के द्वारा परमेश्वर ही प्राणियों का अकाल में संहार कर सकता है, अन्य कोई नहीं।

इसलिए ईश्वरीय न्यायव्यवस्था का तात्पर्य यह नहीं निकाला जा सकता कि जब परमेश्वर लाखों प्राणियों को अकाल में मार देता है, तो मनुष्य भी उनको अकाल में मार डालें। प्रत्युत यह तात्पर्य तो अवश्य निकलता है कि मानुषी दुरवस्था के कारण परमेश्वरीय व्यवस्था को छोड़कर, जिन प्राणियों ने दूसरे प्राणियों को अकाल में मारकर खाने का अभ्यास कर लिया है, उस अभ्यास के छुड़ाने का प्रयत्न मनुष्य अवश्य करे।

हम चेतन सृष्टि की उत्पत्ति में लिख आये हैं कि परमात्मा ने पूर्वसृष्टि के बचे हुए दुष्टों के दुष्कर्मों का फल देने के लिए मकड़ी और बत्तक आदि थोड़ी सी ऐसी भी योनियां उत्पन्न की हैं, जो स्वभावतः जिन्दा प्राणियों को मारकर खाती हैं और शेष सिंहादि मांसाहारी प्राणी तो मुर्दों का मांस खाकर केवल संसार की सफाई करने के ही लिए बनाये गये हैं, जिन्दा प्राणियों

को मारकर मांस खाने के लिये नहीं। साथ ही हम यह भी लिख आये हैं कि उनमें जिन्दा प्राणियों को पकड़कर खानेवाले तभी उत्पन्न होते हैं जब मनुष्यों में प्राणिसंहार की प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ जाती है। इसलिए मनुष्यों को उचित है कि वे प्राणियों का मारना और उनका मांस खाना छोड़ दें, जिससे हिंस्र जन्तुओं से हिंसा करने का स्वभाव जाता रहे। क्योंकि जब मनुष्य अन्य प्राणियों का वध करके उनका मांस खाता है, तो उन पशुओं की खूराक में कमी उत्पन्न होती है, जिनकी खूराक संसार की सफाई के उद्देश्य से मृत प्राणियों का मांस बनाई गई है। खूराक में कमी होने से ही वे चोर और डाकुओं की भांति दूसरे जिंदा प्राणियों को चोरी से मारकर खाते हैं। ऐसी दशा में यही कहना पड़ता है कि जिंदा पशुओं को पकड़कर खाने की आदत उनकी स्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत मनुष्यों के कारण से हुई है। यहां हम हिंस्र पशुओं के स्वभाव से सम्बन्ध रखनेवाली दो एक घटनाओं का वर्णन करके दिखलाते हैं कि जिंदा जानवरों को पकड़कर खाने की आदत उनकी स्वाभाविक नहीं है।

कोई २५ वर्ष की बात है कि मध्यप्रदेश की रायगढ़ रियासत में एक छोटा-सा शेर का बच्चा पकड़कर आया। राजासाहब ने उसे पाल लिया और उसके खाने के लिए मांस का प्रबन्ध करा दिया। तदनुसार उसको नित्य मांस के टुकड़े बाहर से दिये जाने लगे। यह क्रम साल भर से भी ज्यादा जारी रहा। जब वह काफी बड़ा हो गया, तो एक दिन उसके कठहरे में जिंदा बकरा डाल दिया गया। बकरे को देखते ही शेर एक कोने में जाकर बैठ गया और बकरा इधर-उधर घूमने लगा। यह खबर राजासाहब को दी गई। राजा-साहब ने उस दिन से जिंदा बकरा देना बन्द करा दिया। परन्तु विनोद के लिए जब इच्छा होती थी तब जिंदा बकरा कठहरे में डलवाकर तमाशा देखा करते थे। जैसी यह घटना है वैसी ही घटना का एक वर्णन नवम्बर १६१३ के प्रसिद्ध वैज्ञानिक अखबार 'लिटिल पेपर' में इस प्रकार छपा था कि 'पशुओं में बच्चों की परवरिश का अद्भुत प्रेम देखा जाता है। बिल्लियां चूहों, शशकों और अन्य प्राणियों के बच्चों की परवरिश करती हैं। गौवें बकरी के बच्चों को पालती हैं। कुत्तियां लोमड़ी, खरगोश, भेड़ों के बच्चों को पालती हैं और शूकरियां भी बिल्ली के बच्चों को पालती हैं। सबसे बड़ा प्रसिद्ध उदाहरण डबलिन (जर्मनी) के चिड़ियाखाने की वृद्धा सिंहनी का है,

जिसने अपनी मांद में एक कुत्ता पाल रक्खा था, जो उसको मांद के चूहे मारा करता था[१]।' इसी तरह की एक बात महाभारत में लिखी है कि—

सा हि मांसार्गलं भीष्म मुखात्सिंहस्य खादतः।
दन्तान्तरविलग्नं यत्तदादत्तेऽल्पचेतनः॥ (महा० सभापर्व)

अर्थात् भूलिंग पक्षी सिंह के मुंह में अपना मुंह डालकर उसके दांतों में घुसे हुए मांस को निकाल कर खाता है। भूलिंग पक्षी बहुत बड़ा होता है। उसमें इतना मांस होता है कि सिंह उसको खाकर अपना पेट भर सकता है, परन्तु अपने मुंह के अन्दर आ जाने पर भी वह उसको नहीं मारता। इन प्रमाणों से पाया जाता है कि जिन्दा प्राणियों का मारना व्याघ्रादिकों का स्वभाव नहीं है। संसार का सबसे बड़ा प्राणिशास्त्री आल्फ्रेड रसल वालिस ठीक ही कहता है कि 'मांसाहारी जन्तु केवल भूख लगने पर ही दूसरे प्राणियों को मारते हैं, मनोविनोद के लिए नहीं। पालतू बिल्लियों और चूहों के जो उदाहरण दिये जाते हैं, वे भ्रममूलक हैं'[२]। ठीक है, हिंस्र पशु यदि मनोविनोद के लिए प्राणियों की हिंसा करता, तो सरकस वाले लोग सिंह-बाघों के साथ कैसे कुश्ती लड़ते? इससे मालूम होता है कि हिंस्रपशु भूख के ही कारण प्राणियों की हिंसा करते हैं, पर यदि समस्त संसार के मनुष्य मांस खाना छोड़ दें और रोज के मरनेवाले पशुओं का मांस जंगलों और गांवों की सरहदों में

---

१. The love of the young among the animals:— Animals have the same wonderful spirit of affection for the young. Cats have reared rats and hares and rabbits and squirrels, cows have reared lambs, dogs have fed and brought up foxes and hares and wolves and kittens, a mother ferret has brought up a young rabbit; and there is a famous instance of a grand old lioness at the Dublin zoo which adopted a dog that killed the rats in her den—(Little Poper) of November 1913.

२. It must be remembered that in a state of nature the carnivora hunt and kill to satisfy hunger not for amusement, and all conclusion derived from the house fed cat and mouse are fallacious. (The World of Life, p. 377)

डलवा दिया जाय, तो समस्त मांसाहारी प्राणी अपनी क्षुधा निवृत्त कर लें और अन्य प्राणियों का अकाल में मारना बन्द कर दें। कहने का मतलब यह कि जब हिंस्र पशुओं का हिंसा करना स्वभाव ही नहीं है, जब वे मांस मिलने पर किसी की हिंसा करते ही नहीं और जब पर्याप्त मांस मिलने पर वे प्राणियों का मारना छोड़ सकते हैं तब यह नहीं कहा जा सकता कि प्राणियों का मारना उनका स्वभाव है। वे प्राणियों को तभी मारते हैं जब मनुष्य अन्य प्राणियों को मारकर खा जाता है। यदि मनुष्य अन्य प्राणियों को मारकर खाना छोड़ दे, तो हिंस्र पशु भी जिन्दा जानवरों का मारना छोड़ दें। परन्तु जब मनुष्य प्राणियों को मारकर खाना नहीं छोड़ता, तो परमेश्वर भी हिंसक पशुओं के द्वारा होनेवाली हिंसा का इलाज नहीं कर सकता। यही कारण है कि संसार में हिंसा का साम्राज्य हो गया है और यह निर्णय करना कठिन हो गया है कि कितनी हिंसा ईश्वरी न्यायव्यवस्था से हो रही है और कितनी मनुष्यों के अत्याचार से।

मनुष्यकृत और ईश्वरकृत हिंसा में कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि जो मनुष्यकृत है, वही ईश्वरकृत है। 'मनुष्य कर्म करता है और परमेश्वर उसी कर्म के अनुसार फल दे देता है। अर्थात् आगे-आगे मनुष्यों के कर्म और पीछे पीछे परमेश्वर की व्यवस्था काम कर रही है, इसलिए मनुष्यकृत और ईश्वरकृत हिंसा में कुछ भी अन्तर नहीं है। इस सिद्धांत के अनुसार यदि परमेश्वर हिंस्र पशुओं के द्वारा मनुष्यों और मनुष्यों के प्रिय पशुओं को अल्पायु में मारकर मनुष्यों को उनकी हिंसाप्रवृत्ति का प्रतिफल देता है, तो यह हिंसा मनुष्यों की ही की हुई समझी जा सकती है। ईश्वर की कराई हुई नहीं। इसलिए मनुष्यों को उचित है कि वे किसी भी प्राणी की हिंसा न करें और प्रत्येक प्राणी को ऐसा मौका दें कि वह अपने भोगों को भोगता हुआ अपनी पूर्ण आयु तक जीये और अपने श्रम से ऋण चुकाकर चला जाय। इस प्रकार का सृष्टिसंबंधी ज्ञान प्राप्त करने से—सृष्टि के कारण-कार्य की मीमांसा को हृदयङ्गम करने से—मनुष्य सृष्टि का उचित उपभोग कर सकता है और संसार के उचित उपयोग से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। पर स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य केवल उपर्युक्त सिद्धान्तों के जान लेने मात्र ही से सृष्टि का उचित उपयोग नहीं कर सकता और न वह केवल सृष्टि के कारण-कार्य की शृङ्खला को समझकर ही न्याययुक्त व्यवहार कर सकता है। क्योंकि जानना और बात है और करना

दूसरी बात है। इसलिये मनुष्य को उचित है कि वह मोक्षसाधना के साथ ही सृष्टि का उपयोग करे। इसका कारण यही है कि सृष्टि का उचित उपयोग मोक्षसाधना के साथ ही हो सकता है, अतएव आवश्यक जान पड़ता है कि हम यहां थोड़ासा मोक्ष के आभ्यन्तरिक विषयों का भी सारांश लिख दें।

मोक्ष का स्वरूप, स्थान और साधन

मोक्ष का स्वरूप दो प्रकार का है। दुःखों से छूट जाना पहिला स्वरूप है और आनन्द प्राप्त करना दूसरा स्वरूप है। पहले स्वरूप के पक्षपाती कहते हैं कि दुःखों के ही अत्यन्ताभाव में आनन्द भरा हुआ है। वे कहते हैं कि सुषुप्ति इसका नमूना है। इसलिए सांख्यशास्त्र में कहा गया है कि 'समाधि-सुषुप्ति-मोक्षेषु ब्रह्मरूपता' अर्थात् समाधि और सुषुप्ति आदि की ही भांति मोक्ष में ब्रह्मरूपता होती है परन्तु आनन्दपक्षवाले कहते हैं कि सुषुप्ति में केवल दुःखों का ही तिरोभाव होता है, आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। जो लोग कहते हैं कि जागने पर मनुष्य का यह कहना कि अच्छी नींद आई वह आनन्द की ही सूचना है, वे बाललीला ही करते हैं। क्योंकि सुषुप्ति के समय न सुखों का भान होता है न दुःखों का ही। यदि सुखों और दुःखों का अत्यन्ताभाव ही आनन्द है, तो क्लोरोफ़ाम सूंघे हुए मनुष्य और मरे हुए मुर्दे सब को आनन्द ही में समझना चाहिये और पत्थर, मिट्टी तथा दिवारों की मुक्ति ही माननी चाहिये। किन्तु मुक्ति का अर्थ आनन्द प्राप्त करना है, इसलिए मोक्ष का स्वरूप गलत है। मोक्ष का दूसरा स्वरूप आनन्द है। पर विना दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति के आनन्द भी नहीं हो सकता, इसलिए मोक्ष का सच्चा स्वरूप दुःखों की निवृत्ति और आनन्द को प्राप्ति ही है, अतः हम यहां देखना चाहते हैं कि दुःखों की निवृत्ति और आनन्द का क्या रहस्य है।

दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति का अर्थ प्रकृतिबन्धन अर्थात मायावेष्टन से छूट जाना है। स्थूल और सूक्ष्म शरीरों से जब छुटकारा मिल जाता है तब दुःखों का अत्यन्ताभाव हो जाता है। क्योंकि न्यायशास्त्र में लिखा है कि दुःखों का कारण शरीर ही है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक आदि जितने दुःख होते हैं, सब शरीर ही के द्वारा होते हैं। इसलिए शरीर के अत्यन्ताभाव से ही दुःखों का अत्यन्ताभाव हो जाता है। परन्तु जैसा कि अभी हमने कहा है कि केवल दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति से ही आनन्द की प्राप्ति नहीं हो जाती, इसलिए देखना चाहिये कि आनन्द क्या है।

आनन्द दो प्रकार का है। पहिला प्रकार यह है कि मुझे किसी प्रकार का दुःख न हो और मैं ज्ञानयुक्त होकर संसार का और अपने आपका रसास्वादन करूं। दूसरा प्रकार यह है कि मुझे किसी प्रकार का दुःख न हो और मैं परमेश्वर को प्राप्त करके उसका रसास्वादन करूं। इन दोनों प्रकारों में से पहिले प्रकार में संसार और अपने आपके रसास्वादन को लालसा है और दूसरे में परमात्मा के रसास्वादन की अभिलाषा है। इसलिये देखना चाहते हैं कि इन दोनों में से कौन सा प्रशस्त है।

इनमें से संसार के रसास्वादन में आनन्द नहीं है। क्योंकि संसार का रसास्वादन विना शरीर के हो नहीं सकता और शरीर ही दुःखों का घर है, इसलिये दुःखदायी शरीर के साथ जो थोड़ा बहुत संसार का सुख अनुभूत होता है, वह दुःखमिश्रित होने से कष्टकर ही होता है, इसलिए संसार के रसास्वादन का नाम आनन्द नहीं हो सकता। रहा अपने आपका रसास्वादन, सो वह भी आनन्द नहीं कहला सकता। क्योंकि एक तो अपने आप से कभी कोई अधिक समय तक तृप्त नहीं रह सकता, दूसरे अपने आपके अनुभव करने के लिये मस्तिष्क की आवश्यकता होती है, जिसके द्वारा अपने आपका अनुभव होता है। जब तक मस्तिष्क न हो तब तक विचार ही उत्पन्न नहीं हो सकते, इसलिये यह विचारानन्द भी शरीर के आश्रित होने से सदैव दुःखमिश्रित ही रहता है। तीसरी बात जो अपने आपमें आनन्द के बिगाड़ने वाली है, यह आत्मा की बनावट अर्थात् उसका स्वभाव है उसके स्वभाव में इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञान तथा प्रयत्न सदैव बने रहते हैं[1]। इसलिए यह शान्ति से अपने आपका रसास्वादन कर ही नहीं सकता। यही कारण है कि अपने आपका रसास्वादन भी आनन्द नहीं कहला सकता। अब रही दूसरे प्रकार के आनन्द की बात, वह आनन्द परमात्मा के सकाश में, उसके सम्मेलन में और तदाकार हो जाने में बतलाया जाता है, जो ठीक प्रतीत होता है। क्योंकि शुद्ध स्थायी आनन्द के लिए शुद्ध और स्थायी आनन्द वाले पदार्थ ही की आवश्यकता है। इसीलिये उपनिषद् में कहा गया है कि 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' अर्थात् जो आनन्दरूप अमृत है उसको विज्ञान से ही विद्वान् देखते हैं। इसका कारण यही है कि वह प्रकृतिबन्धन से रहित पूर्ण ज्ञानी और सर्वव्यापक है। अतः उसमें आनन्द के

[1] इच्छा-द्वेष-प्रयत्न सुख दुःख-ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्। (वैशेषिकदर्शन)

अतिरिक्त दुःखों की सम्भावना ही नहीं है। दूसरा कारण आनन्द का यह कि परमेश्वर की प्राप्ति से सब शंकाएं निवृत्त हो जाती हैं और संसार की कोई बात ज्ञातव्य नहीं रहती ॐ। इसलिए इसमें द्वैत-अद्वैत का झगड़ा ले दौड़ना उचित नहीं है, किन्तु देखना यह है कि वेदों और उपनिषदों में किस प्रकार उसके सम्पर्क और उसके सम्मेलन से ही आनन्द बतलाया गया है। यहां हम इस विषय के थोड़े से वाक्य उद्धृत करते हैं, जो इस प्रकार हैं—

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति ॥ आश्चर्यवत्पश्यति वीतशोकः ॥
ये पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः ॥
तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥ तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम् ॥ जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम् ॥
तमक्रतुः पश्यति वीतशोकः ॥ दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या ॥
ब्रह्मविद् ब्रह्मवैभवति ॥ अयमात्मा ब्रह्म ॥

इन उपनिषद् वाक्यों में परमात्मा की प्राप्ति, दर्शन, सम्मेलन और उसके साथ एकीकरण का वर्णन है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उस की प्राप्ति से ही आनन्द मिल सकता है। इसलिए प्रकृतिबन्धन से छूटकर अर्थात् जन्ममरण के चक्कर से मुक्त होकर परमात्मा की प्राप्ति का नाम मोक्ष है और यही मोक्ष का वैदिक तथा शुद्ध स्वरूप है। इस प्रकार से मोक्ष का स्वरूप निश्चित हो जाने पर अब देखना चाहिये कि मोक्ष का स्थान कहां है।

जहां तक प्रकृति अर्थात् माया का वेष्टन है, वहां तक दुःखों से छुटकारा नहीं हो सकता। क्योंकि प्रकृति परिणामिनी है, एकरस रहने वाली नहीं। जो पदार्थ एकरस नहीं रहता और परिणामी होता है, उसके संसर्ग से सदैव अनुकूलता प्रतिकूलता बनी ही रहती है और प्रतिकूल वेदना से दुःख भी बने ही रहते हैं। इसलिये जब तक जीव प्रकृति के तीनों वेष्टनों से अलग न हो जाय तब तक वह दुःखों से बच नहीं सकता प्रकृति का पहला वेष्टन सूक्ष्म शरीर है, दूसरा वेष्टन स्थूल शरीर है और तीसरा वेष्टन यह बाहरी विराट् शरीर (ब्रह्माण्ड) है जिसमें यह (पिण्ड) शरीर बंधा हुआ है। जब तक इन तीनों शरीरों से अर्थात समस्त मायिक जगत् से जीव जुदा न हो जाय तबतक वह दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए प्राकृतिक जगत् और शुद्ध ब्रह्म

ॐ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ॥
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

की मर्यादा का वर्णन करते हुए वेद कहता है कि 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' अर्थात् परमात्मा के एक पाद में यह समस्त मायिक जगत् है और तीन पाद द्यौ में अमर हैं। इसका मतलब यह है कि प्राकृतिक जगत् परिणामी और मरण-धर्म वाला है और अप्राकृतिक द्यौ-लोक जहां प्रकृतिरहित केवल परमात्मा ही परमात्मा है, वही अमृत है। इसलिए जीवन्मुक्त पुरुष मरकर उसी दुःखरहित द्यौ लोक में जाता है, जहां केवल आनन्द स्वरूप परमात्मा ही है, प्राकृतिक जगत् नहीं।

वेदों में द्यावापृथिवीरूपी इस ब्रह्माण्ड (सम्पुट) का विस्तृत वर्णन है। इस सम्पुट के तीन भाग हैं—पहला नीचे का, दूसरा मध्य का और तीसरा ऊपर का। नीचे के भाग को पृथिवी, मध्य के भाग को अन्तरिक्ष और ऊपर के भाग को द्यौ कहते हैं। अथर्ववेद ४,३९ में लिखा है कि 'पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः अन्तरिक्षं धेनुस्तस्या वायुर्वत्सः द्यौर्धेनुस्तस्या आदित्यो वत्सः' अर्थात् पृथिवी धेनु का अग्नि बछड़ा है। अन्तरिक्ष धेनु का वायु बछड़ा है और द्यौ धेनु का सूर्य बछड़ा है। यही तीनों लोक हैं और यही तीनों लोकों के तीनों देवता हैं। इसमें द्यौ का देवता सूर्य है। सूर्य के आस-पास ही तक प्राकृतिक जगत् है, सूर्य के बहुत आगे तक नहीं। सूर्य की आगे की सीमा का ही नाम द्यौलोक है और वही वेद में स्वर्ग और ब्रह्मलोक के नाम से कहा गया है, अतः वही मोक्ष का स्थान है। इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है कि 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति' अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष सूर्यद्वार से ही मोक्ष धाम को जाते हैं। इसका यही मतलब है कि मायावेष्टन की सीमा सूर्य ही है, अतः सूर्य ही मोक्षधाम का दरवाजा है और सूर्य का पृष्ठभाग ही ब्रह्मलोक है। अमरकोश में लिखा है कि--

> स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः।
> सुरलोको द्यौर्दिवौ द्वे स्त्रियां क्लीबे त्रिविष्टपम्॥

अर्थात् स्वः, अव्यय, स्वर्ग, नाक, त्रिदिव, त्रिदशालय, सुरलोक, द्यौ, दिव् और त्रिविष्टप आदि शब्द एक ही पदार्थ के वाचक हैं। इन सब शब्दों में स्वः, स्वर्ग, नाक और द्यौ शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। सभी सन्ध्या करने वाले भूः, भुवः और स्वः को नित्य पढ़ते हैं। इसमें भूः पृथिवीवाची, भुवः अन्तरिक्षवाची और स्वः द्यौलोकवाची है। उसी को स्वर्ग कहा गया है। इसी तरह नाक शब्द की निरुक्ति करते हुए यास्काचार्य कहते हैं कि 'नाक आदित्यो

भवति' अर्थात् नाक सूर्य ही है, इसी तरह सूर्य भी द्यौलोक का ही सूचक है और द्यौ तो द्यौ है ही। इसलिए द्यौलोक के स्वर्ग होने में कुछ भी शंका नहीं रह जाती। पर स्मरण रखना चाहिये कि यह वैदिक स्वर्ग वह नहीं है जिसका वर्णन सेमिटिक दर्शन से लेकर गीता आदि पुराणों में किया गया है। क्योंकि इस सेमिटिक स्वर्ग के निवासी देवता बड़े ही दुःखी हैं। वे सदैव अपने शत्रुओं से पीड़ित रहते हैं। उनके घर में घी-दूध की एक बूंद का भी ठिकाना नहीं है, वे पान तम्बाकू से मोहताज हैं, गुड़-शक्कर के भिखारी हैं, स्त्रियों के कटाक्ष और बालकों की तोतरी भाषा के लालायित हैं तथा काव्यकला से वंचित हैं❀। उनका राजा इन्द्र तो बड़ा ही भीरु, लम्पट, लुच्चा और जालसाज है। इसलिए वैदिक स्वर्ग से इस स्वर्ग का कुछ भी वास्ता नहीं है। वैदिक स्वर्ग तो वह है, जिसमें जीवन्मुक्त उत्तम कर्मों को करता हुआ सूर्य के द्वार से जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि 'तेन धीरा अपि यन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गलोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः' अर्थात् ब्रह्मज्ञानी पुरुष मुक्त होकर ऊपर की ओर स्वर्गलोक को जाते हैं। इसी स्वर्ग को ब्रह्मलोक भी कहा गया है और सूर्य से ही उसका भी सम्बन्ध बतलाया गया है। मुण्डक उपनिषद् में लिखा है कि—

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥
एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥

अर्थात् आइये! आइये!! यही ब्रह्मलोक है, यह कहती हुई यज्ञाहुतियां सूर्य की किरणों के द्वारा यजमान को ब्रह्मलोक में ले जाती हैं। जो समय पर अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मों को करता है, उसको सूर्य की किरणें वहीं पहुंचा देती हैं, जहां वह देवाधिदेव परमात्मा रहता है। इन प्रमाणों से यह स्पष्ट हो गया कि अग्निहोत्री को अग्नि की सातों ज्वालायें सूर्य की सातों किरणों के द्वारा उस स्वर्ग अर्थात् उस ब्रह्मलोक में पहुँचा देती हैं, जो सूर्य के ऊपर है। यजुर्वेद में परमात्मा स्वयं कहता है कि 'योऽसावादित्ये पुरुषः सो असावहम्' अर्थात् जो सूर्य द्वारा से निर्मल और अमृत पुरुष दिखलाई पड़ता है, वह मैं

❀इक्षोर्विकारः मतयः कवीनां गवां रसो बालकचेष्टितानि।
ताम्बूलपत्रं वनिताकटाक्षो एतान्यहो सन्ति न शक्रनाके ॥

ही हूं। कहने का मतलब यह है कि स्वर्ग और ब्रह्मलोक एक ही स्थान के नाम हैं और यह स्थान सूर्य के ऊपर है तथा इसी में मुक्त पुरुष ब्रह्मानन्द का रसास्वादन करते हैं। उपनिषदों ने बहुत ही स्पष्ट रीति से वर्णन कर दिया है कि स्वर्ग और ब्रह्मलोक में मुक्तात्माएं किस प्रकार का आनन्द प्राप्त करती हैं। यहां हम थोड़ी सी उन्हीं श्रुतियों को उद्धृत करते हैं, यथा---

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते॥
सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्। प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म। स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादूर्ध्वं उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत्।
स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभि रुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते॥
तेषु ब्रह्मलोकेषु परापरावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः।
एवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते॥

अर्थात् स्वर्गलोक में न भय ही है और न वहां वृद्धावस्था का ही डर है। वहां तो क्षुधा, तृषा के दुखों से छूटकर केवल आनन्द ही आनन्द है। स्वर्गलोक को जाने वाला मृत्यु के पाशों को तोड़कर वहां आनन्द करता है। स्वर्गलोक में अमृतत्व को प्राप्त होता है और सब कामनाओं को प्राप्त होकर आनन्द करता है। जिस तरह सर्प अपनी केंचुली का परित्याग कर देता है, उसी तरह जीवन्मुक्त सब पापोंसे छूटकर ब्रह्मलोक में आनन्दघन परमात्मा को प्राप्त होता है। इस प्रकार से जो ब्रह्मलोक में जाते हैं, वे फिर लौट कर नहीं आते। अर्थात् जो ब्रह्मलोक को जाते हैं, वे वापस नहीं आते! नहीं आते!!

इन उपर्युक्त समस्त प्रमाणों से स्वर्ग और ब्रह्मलोक से संबंध रखने वाली तीनों शर्तों की पूर्ति प्रमाणित होती है। अर्थात् ब्रह्मविद् स्वर्ग को जाते हैं, वे हर प्रकार के भय, शोक और जरा--मृत्यु आदि दुखों से छूट जाते हैं और समस्त कामनाओं से निवृत्त होकर आनन्दित हो जाते हैं। यही मोक्ष

है और यही आर्यों की अन्तिम अभिलाषा है, किन्तु इन पर लोक यह आपत्ति करते हैं कि गीता और उपनिषदों में स्वर्ग और ब्रह्मलोक से वापस आना भी लिखा है, इसलिए स्वर्ग और ब्रह्मलोक मोक्षधाम नहीं हो सकते और न स्वर्ग और ब्रह्मलोक में जाने वाले मुक्त ही समझे जा सकते हैं। वे अपने इस आरोप की पुष्टि में निम्न प्रमाण उपस्थित करते हैं--

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूयेमं लोकं हीनतरं चाविशन्ति।
ततो भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृता परिमुच्यन्ति सर्वे।
आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

अर्थात् सूर्य के पृष्ठ भाग–स्वर्ग–में आनन्द भोग कर प्राणी हीनतर लोकों में जाते हैं। स्वर्ग लोक का सुख भोग कर मृत्यु लोक को प्राप्त होते हैं। परान्तकाल में ब्रह्मलोक से भी हट जाना पड़ता है और ब्रह्मलोक से भी पुनरावर्तन होता है। आरोपकर्ता कहते हैं कि इन प्रमाणों में स्पष्ट ही स्वर्ग और ब्रह्मलोक से वापस आना कहा गया है, इसलिये स्वर्ग और ब्रह्मलोक मोक्षधाम नहीं हो सकते। इस पर हमारा नम्र निवेदन इतना ही है कि यह वेदों का सिद्धान्त है, इसलिए केवल पुनरावर्तन की दलील से खण्डित नहीं हो सकता। वेद में स्पष्ट लिखा है कि—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवाऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥
(यजु० ३२। १०)

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधी०॥ ८॥
यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधी०॥ (ऋ० ९।११३।८-९)

अर्थात् परमात्मा मेरा भाई, पिता और विधाता है वह समस्त लोक-लोकान्तरों को जानता है, इसलिए जहां देवता अमृतत्व को प्राप्त होते हैं, उसी तृतीय धाम में मुझे पहुँचावे। जहां का राजा सूर्य है, जहां का द्वार द्यौ से ढका है और जहां सूर्य की किरणें ठंडी होकर पहुँचती हैं, वहीं मुझको अमर कीजिये। जिस तीसरे लोक स्वर्ग में सब कामनाओं से तृप्त हुए देव विचरण करते हैं और जहां दिव्य ज्योति से भरा हुआ स्थान है, वहीं मुझे

अमर कीजिये। इन वेदमन्त्रों में स्पष्ट ही तीसरे लोक में जाकर अमर होने की प्रार्थना की गई है। तीसरा लोक स्वर्ग अर्थात् द्यौ ही है, इसमें तो किसी को आपत्ति ही नहीं हो सकती। इसलिए मोक्षधाम स्वर्ग ही है, इसमें सन्देह नहीं❀। हां, पुनरावर्तन और न च पुनरावर्तन के प्रमाणों से कुछ विरोधाभास दीखता है,परन्तु विद्वानों ने उसका भी स्पष्टीकरण कर दिया है। अभी हम लिख आये हैं कि 'ब्रह्मलोकं सम्पद्यते न च पुनरावर्तते' अर्थात् ब्रह्मलोक में जाकर फिर वापस नहीं आते और आपत्तिकर्ता की दी हुई श्रुति कहती है कि 'नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूयेमं लोकं हीनतरं चाविशन्ति' अर्थात् स्वर्ग से आकर हीनतर लोकों को जाते हैं। इसलिये यह प्रश्न अवश्य उत्पन्न होता है कि इन दोनों विरोधी बातों का सामञ्जस्य क्या है ? परन्तु हम देखते हैं कि पूर्वाचार्यों ने इन दोनों परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को बहुत ही अच्छी तरह सुलझा दिया है और उपनिषदों में ही लिख दिया है कि 'परान्तकाले परिमुच्यन्ति' और 'परापरावतः न पुनरावृत्तिः' अर्थात् परांत-काल में लौट आते हैं और परांतकाल के पूर्व नहीं लौटते। तात्पर्य स्पष्ट हो गया कि जो वाक्य न लौटने के आशय वाले हैं, वे परांतकाल की पूर्व सीमा से सम्बन्ध रखते हैं और जो लौटने के आशय वाले हैं, वे परांतकाल की सीमा के हैं। दोनों का मथितार्थ यह है कि मोक्ष से परांतकाल तक जीव नहीं लौटते, पर परांतकाल के बाद लौट आते हैं। रहा यह कि मोक्ष से कोई लौट ही नहीं सकता। इस पर हमारा नम्र निवेदन इतना ही है कि जब गीता के अनुसार स्वयं कृष्ण भगवान् ही कहते हैं कि 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि' अर्थात् मेरे अनेकों जन्म हो चुके हैं और अनेकों बार मैं धर्म की स्थापना के लिए आया ही करता हूँ तो अन्य जीवों के मोक्ष से वापस आने में कैसे आपत्ति की जा सकती है, मोक्ष से वापस आने का सिद्धान्त तो सना-तन है, वे गलती पर हैं। मोक्ष का सिद्धान्त किसी का निकाला हुआ नहीं है, प्रत्युत वह एक वास्तविक घटना है, जो सनातन से ऋषि-मुनियों के द्वारा अनुमोदित होती हुई आ रही है। इसीलिए उपनिषदों में तत्सम्बन्धी प्रमाण मिलते हैं। उन प्रमाणों को सबने देखा है और अनुभव किया है। इसीलिए श्री स्वामी आदिशंकराचार्य ने धीमी और स्वामी आनन्दगिरि ने प्रबल

❀ इसीलिए तो गीता ने वैदिकों को 'स्वर्गपराः' कहा है।

आवाज से प्रतिपादन किया है कि उपनिषदों के अनुसार मोक्ष से वापस आना सिद्ध होता है। छान्दोग्य उपनिषद् ४।१५।६ में लिखा है कि 'स एतान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते' अर्थात ज्ञानी पुरुष परमात्मा को प्राप्त होकर मन्वन्तर के इस चक्कर में वापस नहीं आता। इस श्रुति में यह भाव गर्भित है कि इस मन्वन्तर में वापस नहीं आता, किन्तु दूसरे मन्वन्तर में वापस आ जाता है। इस श्रुति का भाष्य करते हुए स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं कि 'एतेन प्रतिपद्यमाना गच्छन्तो ब्रह्म इमं मानवं मनुसम्बन्धिनं मनोः सृष्टि-लक्षणमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते'। इस वाक्य में 'इमं मानवमावर्तं' पद पर स्वामी शंकराचार्य ने अधिक नहीं लिखा। उन्होंने केवल इतना ही कह दिया है कि 'इमं मानवं मनुसम्बन्धिनं' अर्थात् इस मनुसम्बन्धी चक्कर में। यद्यपि इससे धीमा प्रकाश पड़ता है, पर बात स्पष्ट नहीं होती, किन्तु इस पर स्वामी आनन्दगिरि ने स्पष्ट कह दिया है कि—

इममिति विशेषणादनावृत्तिरस्मिन्कल्पे, कल्पान्तरे त्वावृत्तिरिति सूच्यते' अर्थात् इस 'इमं' विशेषण से इसी कल्प में अनावृत्ति सिद्ध होती है, पर कल्पान्तर में तो आवृत्ति ही सूचित होती है। स्वामी आनन्दगिरि की इस निष्पत्ति से आवृत्तिवाद पर बड़ा ही सुन्दर प्रकाश पड़ता है और स्पष्ट हो जाता है कि कल्पान्तर में जीव मोक्ष से अवश्य वापस आ जाता है। इसलिए मोक्ष से वापस आने पर भी स्वर्ग और ब्रह्मलोक मोक्षधाम ही सिद्ध होते हैं और सूर्य का पृष्ठ भाग ही स्वर्ग और ब्रह्मलोक सिद्ध होता है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु कुछ लोग कहते हैं कि मोक्ष से वापस आने का सिद्धान्त मान लेने से ब्रह्म और जीव की एकता में विघात आता है। क्योंकि वेदान्त का यही सिद्धान्त है कि जीव मोक्ष में ब्रह्म ही हो जाता है, अतएव मोक्ष से पुनरावृत्ति मानना उचित नहीं है। परन्तु हम देखते हैं कि 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' के अनुसार यह सृष्टि अनादि काल से चली आ रही है और इसके चलने का कारण केवल जीवों के कर्म और परमेश्वर की न्यायव्यवस्था ही है। ऐसी दशा में यह तो निर्विवाद ही है कि जीव अनादि काल से वर्तमान काल पर्यन्त ब्रह्म से जुदा थे और जुदा हैं। अब विवाद केवल भविष्य में दोनों के एक हो जाने का है। एक दल कहता है कि जब जीव और ब्रह्म दोनों अनादि काल से अब तक पृथक् हैं, तो भविष्य में भी एक नहीं

हो सकते और दूसरा दल कहता है कि प्रागभाव के सिद्धान्तानुसार जिसप्रकार घड़ा बनने के पूर्व अनादि काल से नहीं था, किन्तु बनने पर हो गया और अनादि काल की स्थिति नष्ट हो गई, इसी प्रकार जीव भी यद्यपि अनादि काल से पृथक् था, पर भविष्य में एक हो सकता है और अनादि काल की स्थिति नष्ट हो सकती है।

किन्तु वैदिकों के मत से ये दोनों दलीलें जिज्ञासु को उलझन में डालकर मोक्ष के अनुष्ठान ही से उपेक्षा दिलाने वाली हैं, इसलिए इनका आदर करना उचित नहीं है। क्योंकि वैदिकों के मन्तव्यानुसार पहले मत की दलील में यह दोष है कि जब जीवों में ब्रह्म व्यापक है, तो वह उससे पृथक् कैसे हो सकता है और दूसरे दल की दलील में यह दोष है कि प्रागभाव का सिद्धांत सदैव कारण-कार्य ही में लगता है, भिन्न पदार्थों में नहीं। मिट्टी घड़े का कारण है, इसलिए घड़ा यद्यपि अनादि काल से प्रत्यक्ष नहीं था, पर अपने कारण में अवश्य था, इसलिये कारण से निकल भी आया। पर जीव का ब्रह्म कारण नहीं है—वह ब्रह्म से नहीं बना और अनादि काल से अपना अस्तित्व पृथक् रखता है, इसलिये आगे भी ब्रह्म में समा नहीं सकता। क्योंकि कार्य ही अपने कारण में समा सकता है, अन्य पदार्थ नहीं। इस तरह ये दोनों दलीलें निर्जीव साबित होती हैं। यही नहीं, किन्तु मोक्ष अवस्था की जितनी दलीलें हैं, सभी भद्दी हैं और एक भी विश्वास के योग्य नहीं है। इसका कारण यही है कि मोक्ष की स्थिति दलील का विषय नहीं है, किन्तु स्वयं प्राप्त करके अनुभव करने का विषय है।

दलील तो इतने ही काम के लिए है कि वह जिज्ञासु के मन पर परमात्मा के अस्तित्व को बैठाल दे और उसके प्राप्त करने की अभिलाषा को उत्पन्न कर दे। इसके सिवा दलील का कुछ भी प्रयोजन नहीं है। क्योंकि यदि परमसाध्य मोक्ष जैसा महान् विषय भी दलील ही से सिद्ध हो जाय और मोक्ष की स्थिति का अनुभव भी होने लगे, तो फिर मोक्ष के वे साधन, जिन पर मोक्ष की प्राप्ति निर्भर है कौन करेगा और कौन सदाचार, तप और योग-समाधि के लिए कष्ट उठावेगा। क्योंकि मोक्ष की स्थिति का अनुभव तो केवल दलीलबाजी से ही होने लगेगा और फल यह होगा कि आर्यों की तो तप, ब्रह्मचर्य, सदाचार, सादगी और योग तथा समाधि आदि की व्यवस्था ही भंग हो जायगी। परन्तु परमात्मा ने मोक्ष की वास्तविक स्थिति का हल करना

दलीलों के मान का नहीं रक्खा, इसलिए वैदिकों के मत से मोक्षदशा की स्थिति पर विवाद करना एक प्रकार से समय ही खोना है। उपनिषद् में लिखा है कि--

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥
समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

अर्थात् वेदान्त विज्ञान से परमात्मा का निश्चय करके संन्यास और योग से त्यागी विद्वान् ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं। अन्तःकरण के मलों को धोकर विद्वान् जब समाधि में घुसता है और उस समय आत्मा में जो सुख अनुभव करता है, वह वाणी से कहने योग्य नहीं है, प्रत्युत वह स्वयं अपने अन्तःकरण ही में ग्रहण करने योग्य है। परमात्मा के दर्शन से हृदय की गांठ खुल जाती है, सब शंकाएं निवृत्त हो जाती हैं और कर्मफल मुलतवी हो जाते हैं। इन श्रुतियों में वेदान्त की दलीलों से केवल परमात्मा को सिद्ध कर देने का ही इशारा है, मोक्ष की अवस्था का नहीं। मोक्षानन्द का नमूना तो स्वयं समाधि-दशा को प्राप्त करके तभी देखा जा सकता है, जब हृदय की गांठ खुल कर सब शंकाओं की निवृत्ति होती है। इसलिये मोक्ष की स्थिति की बहस में व्यर्थ माथामारी करना वैदिकों को उचित नहीं है और न कभी द्वैत-अद्वैत के झगड़े में पड़ने की आवश्यकता है। आवश्यकता तो केवल यह है कि मोक्ष-प्राप्ति का उपाय किया जाय। पर दुःख से कहना पड़ता है कि मोक्ष के उपायों में भी मतभेद है। कोई कहता है कि केवल ज्ञान से मोक्ष होता है, कोई कहता है कि कर्म ही से मोक्ष हो जाता है और कोई कहता है कि मोक्ष के दिलाने वाली केवल उपासना ही है—भक्ति ही है। ऐसी दशा में जिज्ञासु भ्रम में पड़ जाता है और सीधा मार्ग छोड़कर बहक जाता है, इसलिए हम यहां ज्ञान, कर्म और उपासना के विषय में प्रकाश डालने की कोशिश करते हैं।

हम मोक्ष के स्वरूप और उसके स्थान का वर्णन करके बतला आये हैं कि दुःखों के अत्यन्ताभाव और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का ही नाम मोक्ष है और वह

प्रकृति-बन्धनों से मुक्त होकर परमात्मा की प्राप्ति से ही मिल सकता है। इसलिये देखना चाहिये कि वह ज्ञान से, या कर्म से, या उपासना के पृथक् पृथक् प्रयोगों से प्राप्त हो सकता है या सब प्रयोगों को एक ही साथ उपयुक्त करने से प्राप्त हो सकता है। पूर्व इसके कि हम इस मार्गत्रय का विवेचन करें यह उचित ज्ञात होता है कि पहिले यह जान लें कि यह ज्ञान, कर्म और उपासना की प्रक्रिया आई कहां से। हमें इस विषय में अधिक माथा-पच्ची न करनी पड़ेगी, क्योंकि यह सभी जानते हैं कि ज्ञान, कर्म और उपासना का ही नाम त्रयीविद्या है और समष्टिरूप से त्रयीविद्या का ही नाम वेद है। इसलिये अब देखना चाहिये कि इस वैदिक ज्ञान, कर्म और उपासना का क्या रहस्य है?

हम देखते हैं कि संसार में जो कुछ सत् शिक्षा है, जो कुछ अध्ययन-अध्यापन है और जो कुछ उपदेश है, वह तीन ही भागों में बांटा जा सकता है और उन तीन विभागों का सारांश इतना ही हो सकता है कि 'जानो और मन लगाकर करो'। इस वाक्य में 'जानो' ज्ञानकाण्ड है, 'मन लगाना' उपासना काण्ड है और 'करो' कर्मकाण्ड है। विना इन तीनों के लोक अथवा परलोक का कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। यही वेदों के ज्ञान, कर्म और उपासना का रहस्य है परन्तु जो लोग केवल हवन को ही कर्म कहते हैं, अपने आपको परमात्मा कहने का ही नाम ज्ञान रखते हैं और रात-दिन राम-राम कहने को ही उपासना समझते हैं, वे वेदों के वास्तविक ज्ञान, कर्म और उपासना के मर्म को नहीं समझते। क्योंकि वेदों में ज्ञान, कर्म और उपासना का मतलब ही कुछ और है। हम यहां कई प्रकार के ज्ञान, कई प्रकार के कर्म और कई प्रकार की उपासना से सम्बन्ध रखने वाले कुछ वेद मन्त्रों को उद्धृत करके दिखलाते हैं कि उनमें उस प्रकार के ज्ञान, कर्म और उपासना का वर्णन नहीं है, जिस प्रकार के ज्ञान, कर्म और उपासना की बात कही जाती है। वेद कर्म करने की प्रेरणा करते हुए आज्ञा देते हैं कि—

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुला पृथूनि।
संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
अधः पश्यस्व मोपरि संतरा पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ॥

अर्थात् गौवों के बड़े-बड़े गोष्ठ बनाओ और खूब मोटे-मोटे वर्म सिलाओ। साथ साथ चलो, साथ-साथ बातें करो और साथ-साथ विचार करो। भाई से भाई और बहन से बहन द्वेष न करे। हे स्त्री! तू अब समझदार हो गई है, इसलिए नीची निगाह रख, सीधी चाल से चल और अपने अङ्गों को सदैव ढके रख।

इन मंत्रों में कर्मों का—कुछ न कुछ करने का—उपदेश है। परन्तु ये कर्म यज्ञ अर्थात् हवन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते। इसलिए मानना पड़ेगा कि वेदों में कर्म के नाम से केवल यज्ञों का ही वर्णन नहीं है, प्रत्युत सभी किये जाने वाले कामों को कर्म कहा गया है। इसी तरह ज्ञान के भी कुछ नमूने देखने योग्य हैं। वेद कहते हैं कि—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम् वेद नावः समुद्रियाः।
ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विंदते पतिम्॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
एकं याच दशभिः स्वभूते॥

अर्थात जो पक्षियों के स्थान और गति को जानता है, वह विमान और नाव का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही कन्या युवा पति को प्राप्त होती है। परमात्मा ने सूर्यचन्द्रादि को उसी तरह बनाया है, जैसे इसके पूर्व कल्पों में बनाया था। एक का अंक ही दश का अंक हो जाता है। इन मन्त्रों में अनेक प्रकार के ज्ञान का उपदेश है, पर ब्रह्मज्ञान की एक भी बात नहीं है। इससे कह सकते हैं कि जिस प्रकार वेद के कर्मकाण्ड का मतलब केवल होम, यज्ञ नहीं है, उसी तरह ज्ञान का मतलब भी केवल ब्रह्मज्ञान नहीं है। जो हाल कर्म और ज्ञान का है, वही हाल उपासना का भी है। वेद में लिखा है कि—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु।
पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतम्।
प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु नस्कृधि।

अर्थात् समस्त ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी उत्पन्न हों। मुझे उस मेधा से शीघ्र ही मेधावी बनाइये। मैं सौ वर्ष तक देखूं और सौ वर्ष तक जीता रहूँ। मुझको ब्राह्मणों और क्षत्रियों में प्रिय कीजिये। इन प्रार्थनाओं में मोक्षप्राप्ति

के लिए कुछ भी नहीं कहा गया। इससे मालूम होता है कि वेद के उपासन कांड में भी भिन्न-भिन्न पदार्थों के लिए याचना की गई है, केवल मोक्ष ही के लिए नहीं। इसलिए उपासना से भी वह मतलब नहीं निकलता, जो साम्प्रदायिक लोग निकालते हैं। कहने का मतलब यह कि वेदों में ज्ञान, कर्म और उपासना की योजना केवल मोक्ष ही के लिए नहीं है, प्रत्युत 'जानो और मन लगाकर करो' के सिद्धान्तानुसार प्रत्येक सिद्धि के लिए है।

जिस प्रकार ज्ञान, कर्म और उपासना की योजना प्रत्येक सिद्धि के लिए है, उसी तरह इन तीनों की योजना मोक्ष के लिए भी है। मोक्ष के लिए भी ज्ञान की आवश्यकता है, कर्म की आवश्यकता है और उपासना की आवश्यकता है। परन्तु जो लोग कहते हैं कि केवल ज्ञान या केवल कर्म या केवल उपासना से ही मोक्ष हो जायगा वे गलती पर हैं। वे अपनी साम्प्रदायिक धुन के कारण भूल जाते हैं कि दुःखों का अत्यन्ताभाव और आनन्द की प्राप्ति ही का नाम मोक्ष है और यह प्राकृतिक बन्धन से मुक्त होकर तथा ईश्वर की प्राप्ति से ही मिल सकता है। यदि लोग इतना याद रक्खें तो यह बात इनके सामने आप ही आप आ जाय कि इस समस्त सिद्धि के प्राप्त करने के लिए संसार से विरक्त होना पड़ेगा, प्रकृति-बन्धन से छुटकारा लेना पड़ेगा और आनन्दस्वरूप परमात्मा का सम्मेलन प्राप्त करना पड़ेगा। क्योंकि बिना संसार से विरक्त उत्पन्न हुए शरीर का मोह नहीं जाता और न बिना शरीर मोह का त्याग किये दुःखों से छुटकारा मिल सकता है। इसी तरह बिना दुःखों को हटाये और बिना परमात्मा को प्राप्त किये आनन्द भी नहीं मिल सकता। न्याय शास्त्र में गौतम मुनि लिखते हैं कि—

'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः'

अर्थात् मिथ्या ज्ञान से दोष, दोष से प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से जन्म और जन्म से दुःख होते हैं उनका नाश होने से मोक्ष हो जाता है। कहने का मतलब यह कि दुःखों का अत्यन्ताभाव करने के लिए जन्म अर्थात् शरीर का अत्यन्ताभाव करना चाहिये। शरीर के अत्यन्ताभाव के लिए प्रवृत्ति का अभाव होना चाहिये, प्रवृत्ति के अभाव के लिए दोषों का अभाव होना चाहिये और दोषों के अभाव के लिए मिथ्या ज्ञान का अभाव होना चाहिये। अर्थात् मिथ्या ज्ञान के अभाव से ही पूर्व-पूर्व की रुकावटें दूर हो सकती हैं, इसलिए सब से पहिले मिथ्या

ज्ञान को दूर करने की आवश्यकता है। क्योंकि मोक्ष का सबसे बड़ा बाधक मिथ्या ज्ञान ही है। मिथ्या ज्ञान का नाश सत्य ज्ञान से ही हो सकता है। सत्य ज्ञान का दूसरा पारिभाषिक नाम वस्तु का यथार्थ परिचय है। यदि मनुष्य को संसार का यथार्थ परिचय हो जाय, यदि उसे संसार के कारण-कार्य का बोध हो जाय और यदि मनुष्य की समझ में आ जाय कि समस्त दु:खों और पापों का मूल केवल मनुष्य का शरीर ही है, तो उसके मन से संसार की ममता के दोषों की गहरी छाप मिट जाय और उसकी सांसारिक प्रवृत्तियों में विवेक उत्पन्न हो जाय। मोक्षप्रकरण में इसी विवेक का नाम ज्ञान है। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि केवल इतने ज्ञान और विवेक के उत्पन्न होने से ही मनुष्य मुक्त नहीं हो सकता। जो लोग केवल ज्ञान से मोक्ष मानते हैं, वे नहीं समझा सकते कि इस प्रकार के वैज्ञानिक विश्लेषण को केवल समझ लेने से ही पूर्वकृत कर्मों का नाश कैसे हो जायगा। क्या कभी कोई भी विज्ञानवेत्ता अपराधों के दण्ड से बरी हुआ है? कभी नहीं। मनु भगवान् के दण्डविधान में तो ब्राह्मण और राजा को सर्वसाधारण के दण्ड से बहुत ज्यादा दण्ड देने का विधान किया गया है। इसलिए ज्ञान उत्पन्न होने पर भी और उत्पन्न हो जाने पर भी जब तक शरीर उत्पन्न करनेवाले पूर्वकर्मों का नाश न हो जाय, तब तक दुःखों का अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता। परन्तु कर्मों का नाश विना कर्मों के भोगे नहीं हो सकता। कर्मों का नाश विना कर्मफलों के भोगे नहीं हो सकता यह ठीक है, पर हम यह अवश्य देखते हैं कि कर्मफलों का भोग मुलतवी हो सकता है। क्योंकि कर्मफलों के भोगों का सिद्धान्त कर्मों की लघुत्ता-गुरुता पर अवलम्बित है।

जो कर्म गुरु होते हैं, उनका फल पहिले मिलता है और जो लघु होते हैं, उनका फल बाद में मिलता है। जिस प्रकार पानी में डाला हुआ एक छोटा सा कंकड़ छोटी सी लहर उत्पन्न करता है, परन्तु उसके बाद का डाला हुआ बड़ा कंकड़ उस छोटी लहर को मिटाकर बड़ी लहर उत्पन्न कर देता है, उसी तरह छोटे कर्मफल बड़े कर्मफलों के आगे दब जाते हैं और बड़े कर्मफल आगे हो जाते हैं। एक ही दिन में आगे-पीछे किये हुए लघु-गुरु कामों का परिणाम आगे पीछे होता हुआ देखा जाता है। प्रातःकाल दिए गये दान की कीर्ति आठ बजे की की हुई चोरी के सामने दब जाती है और आठ बजे की की हुई चोरी का अपराध दश बजे की की हुई राजा की प्राणरक्षा के सामने फीका पड़ जाता

है। इसलिए बुरे कर्मफलों को दबाने का सबसे उत्तम उपाय यही है कि निःस्वार्थ भाव से लोकसेवा आदि बड़े कर्म किये जायं। यज्ञ, दान और इष्टापूर्त को करके स्कूल, अस्पताल, गोशाला और धर्मशाला बनवाकर अथवा धर्म, देश और जाति की सेवा के लिए हर प्रकार के कष्टों को सहन करके जो लोग लोककल्याण के निमित्त अनेक प्रकार के बड़े कर्म करते हैं, उनके ये सुकृत कर्म पापभोगों के आगे हो जाते हैं और दूसरे जन्मग्रहण करने में रुकावट पैदा कर देते हैं और सब प्रकार के दुःखों से बचा लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यह दुःख पाने वाला शरीर तभी मिलता है, जब मनुष्यों ने किसी दूसरे को दुःख दिया होता है। पर जिसने कभी किसी को दुःख नहीं दिया, केवल सबको आराम ही पहुंचाता रहा है, वह इस दुःखदायी शरीर और संसार में क्यों आवेगा? इसलिए दुःखों के अत्यन्ताभाव के लिए उत्तम कर्मों की आवश्यकता है। पर जो कहते हैं कि केवल कर्मों से ही मोक्ष हो जायगा, वे भी गलती पर हैं। यदि गीता के कर्मयोग के अनुसार कर्म से ही मोक्ष हो जाता, तो कर्मयोग के उपदेश करनेवाले स्वयं कृष्ण ही क्यों कहते कि 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि' अर्थात् मेरे बहुत से जन्म बीत गये? इससे तो यही ज्ञात होता है कि वे अभी मुक्त नहीं हुए। यदि मान लें कि कृष्ण भगवान् पर यह कानून चस्पां नहीं होता, तो उन अर्जुन की ही दशा को देखना चाहिये, जिनको कर्मयोग का उपदेश किया गया और जिन्होंने उस कर्मयोग के अनुसार युद्ध किया। महाभारत में ही लिखा है कि मरने के बाद नरक-यातना से वे भी चिल्ला रहे थे और उस यातना से उनको उस युधिष्ठिर ने बचाया था, जिसको कभी कर्मयोग का उपदेश नहीं हुआ था। कहने का मतलब यह कि अकेले कर्म से भी मोक्ष नहीं हो सकता।

अब रही उपासना। जो लोग कहते हैं कि यही मोक्ष की साधक है, वे भी भूलते हैं। जिस प्रकार अकेला ज्ञान और अकेला कर्म मोक्षसाधन में असमर्थ है, किन्तु मोक्षसाधन का एक एक अंग पूरा करता है, उसी तरह उपासना भी है। उपासना भी अकेली मोक्ष प्राप्त नहीं करा सकती। क्योंकि उपासना से शरीर का अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता, पर वह मोक्ष के एक अंग की पूर्ति करती है। जिस प्रकार ज्ञान से विवेक उत्पन्न होता है और कर्म से शरीर का अत्यन्ताभाव हो जाता है, उसी तरह उपासना से परमात्मा की प्राप्ति होजाती है। क्योंकि ज्ञान, कर्म और उपासना में एक उपासना ही ऐसी है, जो पर-

आत्मा को अन्तःकरण में आविर्भूत करा सकती है। जिस समय ज्ञान से विवेक और वैराग्य उत्पन्न करके मनुष्य छोटे-बड़े सत्कर्मों को करता हुआ समाधि में पहुंचता है और स्थिरचित होता है, उस समय उपासना के ही द्वारा वह परमात्मा को आत्मा में प्रकट होने की प्रार्थना करता है। यदि उपासना से द्रवीभूत होकर परमात्मा दर्शन न दें, तो मनुष्य ज्ञान और कर्म से कुछ भी नहीं कर सकता। जिस तरह आंख में पड़ा हुआ तिनका आंख को दिखलाई नहीं पड़ता, उसी तरह आत्मा में समाया हुआ परमात्मा भी नहीं सूझता। किन्तु जिस प्रकार आंख का तिनका अपनी तिलमिलाहट से आंख को अपना अनुभव स्वयं करा देता है, उसी तरह समाधिस्थ शान्त आत्मा में नित्य व्याप्त परमात्मा भी अपनी प्रेरणा से अपना अनुभव करा देता है। यह परमात्मा का अनुभव ही जीवन्मुक्ति है और मोक्ष का प्रबल प्रमाण है। जब तक परमात्मा का अनुभव न हो तब तक मोक्ष में सन्देह ही समझना चाहिये। पर यह अनुभव उपर्युक्त ज्ञान, कर्म और उपासना के मिश्रित प्रयोग से ही प्राप्त हो सकता है। इसीलिए मोक्ष का उपाय न केवल ज्ञान है, न कर्म है, और न उपासना ही है, किन्तु तीनों का मिश्रण है, जो आर्यों के वर्णाश्रमधर्म में ओतप्रोत है। उपनिषद् कहते हैं कि—

आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिंसन्त्सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते। (छान्दोग्य उपनिषद् ८।१५।१)

अर्थात् आचार्यकुल से वेदों को पढ़कर, गुरु की दक्षिणा को देकर, समावर्तन द्वारा कुटुम्ब में आकर, स्वाध्याय में रत रहकर और धार्मिक विद्वानों के सत्संग से सब इन्द्रियों को वश में करके, अहिंसाबुद्धि से सब प्राणियों को देखता हुआ और आयुपर्यन्त इस प्रकार का व्यवहार करता हुआ विद्वान् ही ब्रह्मलोक—मोक्ष—को प्राप्त होता है, जहां से फिर वह वापस नहीं आता।

मन की चंचलता रोकने के लिए ही समाधि की आवश्यकता होती है। जब तक मन स्थिर नहीं होता और मनस्तरंगावली चलती रहती है, तब तक परमात्मा का अनुभव नहीं होता, परन्तु जब समाधि द्वारा मन स्थिर हो जाता है, तब स्थिरचित्त में परमात्मा की प्रेरणा का अनुभव होता है।

नहीं आता। यह है आर्यसभ्यतानुसार मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग। इस मार्ग में आरम्भ से अन्त तक ज्ञान, कर्म और उपासना का मिश्रण पाया जाता है। इसलिए मोक्ष प्राप्त करने का उपाय यही है और यही मोक्ष के स्वरूप, स्थान और उपाय का थोड़ा सा दिग्दर्शन है। इस दिग्दर्शन से मोक्ष की महत्ता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। किन्तु संसार में पदे-पदे सृष्टि के पदार्थों की आवश्यकता होती है और प्राणियों की हानि-लाभ का प्रश्न सामने आता है, इसलिए प्राणियों से सम्बन्ध रखने वाले और मोक्ष के साथ उपयुक्त होने वाले अर्थ, काम और धर्म का भी वर्णन होना आवश्यक है। अतएव हम पहिले मोक्ष के साधक और शरीर को रखनेवाले अर्थ का वर्णन करते हैं।

अर्थ की प्रधानता

आर्यसभ्यता की प्रधान चार आधारशिलाओं में मोक्ष की ही भांति अर्थ की प्रधानता है। अर्थ का ही दूसरा नाम सम्पत्ति है। यह अर्थ मोक्ष का प्रधान सहायक है। विना अर्थशुद्धि के मोक्ष नहीं हो सकता। हम चारों पदार्थों का वर्णन करते हुए लिख आये हैं कि जिस प्रकार आत्मा के लिए मोक्ष की, बुद्धि के लिए धर्म की और मन के लिए काम की आवश्यकता होती है, उसी तरह शरीर के लिए अर्थ की भी आवश्यकता होती है। मोक्ष और धर्म की आवश्यकता केवल मनुष्य ही को होती है, परन्तु अर्थ और काम के विना तो मनुष्य, पशु–पक्षी–कीट–पतंग और तृण–पल्लव किसी का भी निर्वाह नहीं हो सकता। काम के विना भी चल सकता है—मनोरंजन को हटाया जा सकता है। परन्तु जिस अर्थ के ऊपर प्राणीमात्र के शरीर स्थिर हैं और प्राणीमात्र की जिन्दगी ठहरी हुई है, उस अर्थ की प्रधानता का अनुमान सहज ही कर लेना चाहिये और उसकी मीमांसा बहुत ही सावधानी से करनी चाहिये। क्योंकि उसके अनुचित संग्रह से मोक्षमार्ग विगड़ जाता है। आर्यों ने अर्थ के इस महत्त्व को समझा था। यही कारण है कि उन्होंने अर्थ के विषय में बहुत ही सूक्ष्म और उदारभाव से विचार किया है। मनुस्मृति में लिखा है कि 'सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्' अर्थात् समस्त पवित्रताओं में अर्थ की पवित्रता ही सर्वश्रेष्ठ है। इसलिए संसार में अर्थसंग्रह करते समय बड़ी ही सावधानी से काम लेना चाहिये। अर्थसंग्रह के विषय में मनु भगवान् कहते हैं कि

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥
यात्रासात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ।
सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ॥ (मनुस्मृति)

अर्थात् जिस वृत्ति में जीवों को बिलकुल ही पीड़ा न हो, अथवा थोड़ी ही पीड़ा हो, उस वृत्ति से आपत्तिरहित काल में वैदिक आर्य निर्वाह करे। बिना अपने शरीर को क्लेश दिये अपने ही अगर्हित कर्मों से केवल निर्वाहमात्र के लिये अर्थ का संग्रह करे और उन समस्त अर्थों को छोड़ दे, जो स्वाध्याय में विघ्न डालते हों।

इन श्लोकों में आपत्तिरहित समय में अर्थसंग्रह के पांच नियम बतलाये गये हैं। पहिला नियम यह है कि अर्थसंग्रह करते समय किसी भी प्राणी को कष्ट न हो। दूसरा नियम यह है कि अर्थसंग्रह करते समय अपने शरीर को भी कष्ट न हो। तीसरा नियम यह है कि अपने ही पुरुषार्थ से उत्पन्न किये गये अर्थ से निर्वाह किया जाय, दूसरों की कमाई से नहीं। चौथा नियम यह है कि अपना उत्पन्न किया हुआ अर्थ भी किसी गर्हित कर्म के द्वारा न उत्पन्न किया गया हो। पांचवां नियम यह है कि अर्थोपार्जन के कारण स्वाध्याय में—पढ़ने लिखने में विघ्न उत्पन्न न होता हो। अर्थात् जो अर्थ इन पांचों नियमों को ध्यान में रखकर उपार्जन किया जाता है, वही अर्थ आर्य सभ्यता के अनुसार पवित्र होता है, किन्तु जो अर्थ इन नियमों को दुर्लंघ्य करके संग्रह किया जाता है, वह अनर्थ हो जाता है। इसलिये प्रत्येक आर्य को अनर्थ से बचते हुए ही अर्थोपार्जन करना चाहिये। क्योंकि वेद उपदेश करते हैं कि—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
(यजुर्वेद ४०। १ २)

अर्थात् इस संसार में परमात्मा को सर्वत्र हाजिर समझकर किसी के भी धन की इच्छा न करो, किन्तु उतने ही से निर्वाह करो, जितना उसने तुम्हारे लिए स्थिर किया है। आजीवन इस प्रकार कर्म करने से ही मोक्ष हो सकता

है और कई दूसरा उपाय नहीं है। इन दोनों मन्त्रों का तात्पर्य यही है कि मोक्षार्थी को संसार से उतने ही पदार्थ लेने चाहियें, जिनके लेने में किसी भी प्राणी को कष्ट न हो। इस नियम का पालन केवल इसी एक सिद्धांत के अवलम्बन से हो सकता है कि जहां तक बने इस संसार से बहुत ही सरल उपायों के द्वारा बहुत ही कम पदार्थ लिये जायं। क्योंकि संसार में जितने प्राणी हैं, सभी को अर्थ की आवश्यकता है। इसलिए जब तक बहुत ही कम लेने का नियम न होगा, तब तक सबके लिए अर्थ की सुविधा नहीं हो सकती।

यद्यपि संसार में सभी प्राणियों को अर्थ की आवश्यकता है, पर मनुष्य की अर्थसम्बन्धी आवश्यकता अन्य प्राणियों की अपेक्षा बहुत ही विलक्षण है। संसार में देखा जाता है कि मनुष्य के अतिरिक्त जितने प्राणी हैं, उन सबका अर्थ केवल आहार और घर तक ही सीमित है। उनको आहार और घर के अतिरिक्त शरीर रक्षासे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य किसी भी अर्थ की आवश्यकता नहीं होती, पर मनुष्य का अर्थ चार भागों में विभाजित है। इन चारों विभागों के नाम भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी हैं। संसार में जितने मनुष्य हैं, चाहे वे जङ्गलों में रहनेवाले कोलभील हों, चाहे फ्रांस के रहनेवाले बड़े-बड़े शौकीन हों, चाहे राजा और बादशाह हों और चाहे त्यागी संन्यासी हों, सबको उपर्युक्त चारों प्रकार के अर्थों की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार एक सम्राट् को नाना प्रकार के व्यंजनों को, अनेक प्रकार के बहुमूल्य वस्त्रों की, बड़े-बड़े राजप्रासादों की और रङ्गमहलों की तथा हजारों प्रकार के बर्तन, फरनीचर, अस्त्र, यान और अन्य अनेकों ऐसे ही पदार्थों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार एक त्यागी परिव्राट् को भी भिक्षान्न, कौपीन, कंदरा और दण्ड-कमंडलु की आवश्यकता होती है और जिस प्रकार सम्राट् और परिव्राट् को इनकी आवश्यकता होती है उसीप्रकार एक अमेरिका के नागरिक से लेकर आफ्रिका के जूलू तक को उक्त चारों पदार्थों की आवश्यकता होती है। इसका यही मतलब है कि संसार के सभी मनुष्यों की आर्थिक आवश्यकताएं एक ही समान हैं। किंतु देखते हैं कि इस समानता में ही इतनी असमानता विद्यमान है कि जिसका सामञ्जस्य करना बड़ा ही कठिन है। कोई मांस खाकर, कोई फल खाकर, कोई अन्न खाकर और कोई सब कुछ खाकर गुजर कर रहा है। इसी तरह कोई लंगोटी लगाकर, कोई कोट-पतलून पहन कर, कोई धोती-दुपट्टा

पहनकर और कोई तहमद-चोगा पहन कर कपड़ों का उपयोग करता है। इसी तरह कहीं के मकान अनेकों मंजिल ऊंचे आसमान से बातें कर रहे हैं। और कहीं के मकान तहखानों की भांति जमीन के नीचे बने हुए पाताल से बातें कर रहे हैं जो हाल भोजन, वस्त्र घरों का है, वही हाल गृहस्थी का भी है। कहीं सोलह-सोलह ट्रंक कमीजें, बावन-बावन जोड़े जूते, नाना प्रकार की कुर्सियां और अलमारियां हैं और कहीं साफ सुथरे कमरों में केवल चटाइयां बिछी हैं और थोड़े से खाने पकाने के बर्तन रक्खे हैं। कहने का मतलब यह कि यद्यपि मनुष्यों की आवश्यकताएं एक ही समान हैं, तथापि उनकी संख्या और प्रकारों में इतना अन्तर और इतनी विषमता है कि जिसको देखकर यह प्रश्न स्वाभाविक ही उपस्थित होता है कि इन सबमें कौनसा प्रकार उत्तम है। जहां तक हमको स्मरण है, इस प्रश्न को आज तक संसार में किसी ने ऐसे ढंग से नहीं सुलझाया, जो संसार की आर्थिक समस्या को हल करते हुए मनुष्य को मोक्षाभिमुखी बना सके।

किंतु बड़े गर्व से कहा जा सकता है कि आर्यों ने बड़ी ही खोज के साथ अर्थ से सम्बन्ध रखनेवाले इन चारों विभागों को इस ढंग से सुलझाया है कि जिसके द्वारा न तो किसी प्राणी को दुःख ही हो सकता है और न अपने आप ही को कष्ट हो सकता है। प्रत्युत संसार की आर्थिक असमानता को नष्ट करके एक ऐसा मार्ग बन जाता है कि जो मनुष्य को लोक और परलोक के सुखों को आसानी से प्राप्त करा सकता है। यही कारण है कि आर्यों ने इस प्रकार के अर्थ को अपनी सभ्यता में प्रधान स्थान दिया है। यहां हम अर्थ से सम्बन्ध रखनेवाले उक्त चारों विभागों को क्रम से लिखते हैं और दिखलाते हैं कि आर्यों ने कितनी बुद्धिमत्ता से अर्थ के प्रश्न को हल किया है।

आर्य भोजन

आर्यों ने अर्थ के प्रधान अङ्ग भोजन अर्थात आहार की बड़ी ही छानबीन की है। उन्होंने आर्य आहार को धार्मिक और वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार स्थिर किया है। उनका विश्वास था कि 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्व-शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' अर्थात् आहार की शुद्धि से सत्व की शुद्धि होती है और सत्त्व की शुद्धि से स्मरणशक्ति निश्चल होती है, परन्तु अशुद्ध आहार से सत्त्व और स्मृति भी अशुद्ध हो जाती है। यहां तक कि अन्नदोष से आयु भी कम हो जाती है। मनु भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि 'आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्यु-

विप्राञ्जिघांसति' अर्थात् आलस्य और अन्नदोष से मनुष्य शीघ्र मर जाता है। इसीलिए जो आहार आयु, बल, रूप, कान्ति और मेधा की वृद्धि करनेवाला हो, वही आर्यों का भोजन हो सकता है। इतना ही नहीं प्रत्युत जिस भोजन के संग्रह करने में अर्थ के पांचों नियमों की अनुकूलता होती हो, किसी भी प्राणी की आयु और भोगों में विघ्न न पड़ता हो और आयु, बल, रूप और मेधा के साथ-साथ मोक्ष प्राप्त करने में भी सहायता मिलती हो, वही आहार आर्यों का भोजन हो सकता है। अर्थात् आर्य-भोजन चार कसौटियों से कसा होना चाहिए। पहिली कसौटी यह है कि जिस आहार से आयु, बल, कान्ति और बुद्धि की वृद्धि होती हो। दूसरी कसौटी यह है कि जिसके प्राप्त करने में किसी को कष्ट न हो अर्थात् किसी प्राणी की आयु और भोगों में विघ्न उत्पन्न न हो। तीसरी कसौटी यह है कि जो आहार बिना किसी कष्ट के केवल अपने ही अगर्हित कर्मों से उत्पन्न हुआ हो और चौथी कसौटी यह है कि जो आहार मोक्ष प्राप्त करने में सहायक हो, वही आर्यों का भोजन हो सकता है, अन्य नहीं। ऐसे आहार को आर्यों की परिभाषा में सात्विक आहार कहते हैं। सात्त्विक आहार का स्वरूप और प्रभाव वर्णन करते हुए भगवद्गीता में श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।

अर्थात् आयु, सत्व, बल, आरोग्य, सुख और सौन्दर्य के बढ़ाने वाले रसीले, चिकने, पुष्ट और रुचिकर आहार ही सात्विक पुरुषों को प्रिय हैं। इसलिये मोक्षार्थियों को सदैव एकान्त-सेवी, हलकी खुराक के खानेवाले और शरीर, वाणी और मन को वश में करने वाले होना चाहिये। इस सात्विक और हलकी खूराक का खुलासा करते हुए वेद भगवान् कहते हैं कि—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन्। (यजु० २। ३४)

अर्थात् घी, दूध, अन्नरस (मिश्री), पके हुए परिस्रुत (टपके हुए) फल और जल आदि बलकारक पदार्थों को खा पीकर हे स्वधास्थ पितरो! आप तृप्त हों। इस मन्त्र में उस आहार का स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है जिसको गीता ने सात्विक आहार कहा है और जिसको पितृजन के बाद आर्यों

को नित्य खाना चाहिये। गीता ने सात्त्विक आहार का लक्षण रसीला, चिकना, पुष्ट और रुचिकर किया है और वेदमन्त्र ने उसी को घी, दूध, मिश्री, जल और फल बतलाया है। दोनों का एक ही तात्पर्य है। घी, दूध, मिश्री, जल और फल ही रसीले, चिकने, पुष्ट और रुचिकर होते हैं। इसलिये घी, दूध, मिश्री, जल और फल ही आर्यों का आहार है। यही आहार उपर्युक्त चारों परीक्षाओं से परीक्षित भी है। इन्हीं पदार्थों के खाने पीने से आयु, बल, मेधा और सत्त्व की वृद्धि होती है, इन्हीं पदार्थों के खाने से न किसी को कष्ट होता है और न किसी प्राणी की आयु और भोगों में बाधा पड़ती है। ये ही पदार्थ बिना किसी प्रकार का कष्ट उठाए केवल फलों की वाटिका लगाने और गौवों की सेवा करने से ही प्राप्त हो जाते हैं और हलकी खूराक होने से यही पदार्थ ब्रह्मचर्य और योगाभ्यास में भी सहायक होते हैं और मोक्षसाधन के योग्य बनाते हैं। इसीलिए आर्यशास्त्रों में इष्टापूर्त के द्वारा बाग बगीचों से फलों की और गौरक्षा के द्वारा घी दूध की प्राप्ति करना उत्तम कहा गया है। जो लोग कहते हैं कि फलों के खाने से और गौ का दूध पीने से भी हिंसा होती है, वे न फल उत्पन्न करने की विद्या जानते हैं, न फलों का खाना जानते हैं और न गौवों के दूध का ही कुछ हाल जानते है। इसलिये हम यहां थोड़ा सा इन दोनों विषयों में भी प्रकाश डालने का यत्न करते हैं।

मनुष्य आहार के चार प्रकार हैं,जिनकी प्राप्ति वृक्षों और पशुओं से होती है। इनमें दो प्रकार का आहार वृक्षों से और दो प्रकार का पशुओं से प्राप्त होता है। दूध और मांस पशुओं से तथा फल और अनाज वृक्षों से प्राप्त होते हैं। इनमें फल दूध और घृतादि सात्त्विक, अनाज और शाकादि राजस और मांस मद्यादि तामस अन्न हैं। सात्त्विक अन्नों में फलों और दूध-घृतादिकों की गणना है। फलों और घृत-दुग्धादिकों को विधिवत् ग्रहण करने से हिंसा बिल्कुल ही नहीं होती। पृथिवी को उर्वरा बनाकर और बीज को कलम आदि से सुसंस्कृत करके सिंचाई और निराई गोड़ाई के द्वारा जो फल उत्पन्न किये जाते हैं, वे कुदरती वन्य फलों से बड़े होते हैं और उनमें बीज कम होते हैं। इसलिये स्वभाव से पके हुए और आप ही आप टपके हुए फलों को बीज निकालकर खाने से कुछ भी हिंसा नहीं होती। क्योंकि बीज निकालकर खाने से वृक्षों को उत्पन्न करनेवाले बीज का नाश नहीं होता। इसी तरह पारस्कर की शिक्षा के अनुसार [illegible] के द्वारा उत्तम क्षेत्र के सांड को

स्वतन्त्रतापूर्वक चराकर और उससे अमुक क्षेत्र की गौ से सन्तति उत्पन्न कराके और इस सन्तति की भी सन्तान को इसी क्रम से गोवर्धन (Cow-breeding) के सिद्धान्तानुसार तैयार करने से पांचवी पीढ़ी में दूध की मात्रा चौगुनी हो जाती है और एक एक गौ डेढ़ डेढ़ मन दूध देनेवाली हो जाती है। परन्तु गौवों को जंगल में छोड़ देने से और मनमानी स्वाभाविक नसल उत्पन्न होने से कभी भी इतना अधिक दूध उत्पन्न नहीं होता। इसलिए बहुत सी गायों को इस प्रकार अमित दूध देने वाली बनाकर, उनसे थोड़ा-थोड़ा दूध ले लेने से हिंसा नहीं होती। क्योंकि जितना दूध बच्चों के लिये आवश्यक होता है, उतना तो उनको मिल ही जाता है। मनुष्य तो फलों की भांति अपनी कारीगरी से गौवों की सेवा करके दूध को स्वाभाविक परिमाण से अधिक बढ़ा लेता है, इसलिये जितना अधिक बचा लेता है, उतना लेने में किसी की हानि नहीं होती अतएव हिंसा भी नहीं होती। अब रहे राजस और तामस अन्न। तामसान्नों के लिए मनुस्मृति में स्पष्ट ही लिखा है कि 'यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्' अर्थात् मांस और मद्य आदि हिंसारूप तामस आहारों को आर्य-सभ्यता में स्थान नहीं दिया गया। किन्तु राजसान्न अनाज और शाकान्न—जिसके खाने से कुछ हिंसा की सम्भावना है, उनको आपत्काल के समय ही सेवन करने की आज्ञा है। इसीलिए यज्ञशेषान्न खाने का विधान किया गया है। कुछ लोग कहते हैं कि आर्यों की सभ्यता में अन्न और कृषि के लिए भी स्थान है, क्योंकि अनेकों स्थानों में अन्न और कृषि की प्रशंसा की गई है। हम कहते हैं कि ठीक है, आर्यों की सभ्यता में अन्न और कृषि का वर्णन आता है, पर उस वर्णन का अभिप्राय दूसरा है।

अर्थात् जहां-जहां अन्न का वर्णन मिलता, वहां-वहां सर्वत्र ही अन्न का तात्पर्य आहार ही है, अनाज नहीं। इसीलिए आहार की परिभाषा करते हुए उपनिषद् में लिखा गया है कि अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते' अर्थात प्राणीमात्र का जो कुछ आहार है, वह सब अन्न ही है। क्योंकि अन्न शब्द 'अद् भक्षणे' धातु से बनता है, जिसका अर्थ यही होता है कि जो कुछ खाया जाय वह सब अन्न ही है। इसीलिए मनु भगवान् ने पिशाचों और राक्षसों का अन्न मद्य और मांस बतलाया है। कहने का मतलब यह कि अन्न शब्द से अनाज का ही ग्रहण नहीं है, प्रत्युत अन्न में उन समस्त पदार्थों का समावेश है, जो प्राणीमात्र का आहार है। अब रही कृषि। कृषि के लिए लिखते हुए मनु भगवान् कहते हैं कि—

वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा।
हिंसाप्रायां पराधीनः कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥
कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता।
भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥ (मनु० १०।८३-८४)

अर्थात वैश्यवृत्ति से जीते हुए भी ब्राह्मण और क्षत्रिय बहुत हिंसावाली और पराधीन खेती को यत्न से छोड़ दें। खेती अच्छी है ऐसा लोग कहते हैं परन्तु यह वृत्ति सत्पुरुषों द्वारा इसलिए निन्दित है कि किसान का लोहा लगा हुआ हल भूमि और भूमि के रहने वालों का नाश कर देता है। क्योंकि धान्य की खेती से वन और वाटिकाओं का नाश हो जाता है, पशुओं के चरागाह नष्ट हो जाते हैं और वनवृक्षों से जो प्राकृतिक शीतलता प्राप्त होती है वह नहीं रहती। जंगलों की शीतलता के अभाव से वर्षा कम हो जाती है और प्राणनाशक वायु का खर्च कम हो जाने से वायु जहरीली हो जाती है और नाना प्रकार की बीमारियां पैदा हो जाती हैं। अवर्षण से भूमि नीरस हो जाती है और अनावृष्टि तथा बीमारियों से मनुष्य पश्वादि मर जाते हैं। इसीलिए कृषि को गर्हित बतलाया गया है और कहा गया है कि कृषि से भूमि और भूमि के प्राणी मर जाते हैं। इसके आगे मनु भगवान् कहते हैं--

अकृतं च कृतात्क्षेत्राद् गौरजाविकमेव च।
हिरण्यधान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत् ॥ (मनु० १०।११६)

अर्थात् बनाये हुए खेत से स्वाभाविक खेत में, बकरी भेड़ से गौ में और धान्य तथा अन्न से सोना में कम दोष है अर्थात उत्तर-उत्तर पूर्व-पूर्व अच्छा है। अन्न से सोना अच्छा है, बकरी से गौ अच्छी है और अन्न वाले खेतों से वाटिका वाले अकृत खेत उत्तम हैं। इसमें भी पाया जाता है कि अन्न वाली खेती का दर्जा आर्य सभ्यता में बहुत ही निकृष्ट है। मनु भगवान् जहां खेती को इतनी हीन दृष्टि से देखते हैं, वहां वृक्षों की हिफाजत के लिये बहुत बड़ा जोर देते हैं। आप कहते हैं कि—

इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम्।
आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ॥ (मनु० ११।६४)

फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम्।
गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥ (मनु० ११।१४२)

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथा यथा।
तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा॥ (मनु० ८।२८५)

अर्थात् ईन्धनके लिए हरे वृक्षों का काटना और निन्दित अन्नों का खाना उपपातक । फल देने वाले वृक्षों, गुल्म, बेल, लता और पुष्पित वीरुधों को काटने वाला एक सौ ऋचाओं का जप करे। समस्त वनस्पतियों का जो मनुष्य जैसा-जैसा नुकसान करे उसको राजा उसी प्रकार दण्ड देवे। इन आज्ञाओं से सिद्ध होता है कि वन और वाटिकाओं का दर्जा खेती से बहुत बड़ा है। ऋग्वेद १०।१४६।६ में लिखा है कि 'बह्वन्नमकृषीवलम्' अर्थात् वन वृक्षों से बिना खेती के ही बहुत सा अन्न अर्थात् मनुष्य के आहार की उत्पत्ति होती है। कहने का मतलब यह है कि आर्य सभ्यता में कृषि से बाग-बगीचों का माहात्म्य अधिक है। यद्यपि बाग-बगीचों का माहात्म्य बड़ा है, तथापि जीविका प्रबन्ध रखने वाले वैश्यों को कृषि करने की भी थोड़ी सी आज्ञा है। इस निर्बल आज्ञा के तीन कारण हैं। एक तो कृषि से उत्पन्न अनाज यज्ञों के काम में आता है अर्थात् अनेक प्रकार के यज्ञ अनेक प्रकार के अन्नों से ही होते हैं। दूसरे अन्न पशुओं को भी दिया जाता है, जिससे दूध और घृत की प्राप्ति होती है। तीसरे थोड़ा बहुत यज्ञशेषान्न प्रसाद के तौर पर रोज खाने का भी अभ्यास रक्खा जाता है, जिससे संकट के समय अन्न से भी निर्वाह किया जा सके*। इसीलिये कहा गया है कि यज्ञ शेष अन्न ही खाना चाहिये, अपने लिये पका कर नहीं१। तात्पर्य यह है कि अनाज और शाकान्न आदि राजस आहार आर्यों की स्वाभाविक खुराक नहीं है। आर्यों का सात्विक आहार तो फल और दूध ही है, जो अर्थ और आहारसंग्रह के समस्त नियमों के अनुसार है और मोक्ष का सहायक है। इसीलिये शतपथ ब्राह्मण २।५।१६ में लिखा है कि 'एतद्वै पय एव अन्नं मनुष्याणाम्' अर्थात् यह दूध ही मनुष्य का अन्न है---आहार है। इसी तरह ऋग्वेद १०।१४६।५ में लिखा है कि 'स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय' अर्थात् मोक्षमार्गी को सुस्वादु फलों का

* आहार का अभ्यास एक दम नहीं बदला जा सकता, इसलिये आपत्काल का ध्यान रखते हुए प्रसाद के रूप में थोड़ा सा यज्ञशेषान्न अवश्य खाना चाहिये। नित्य यज्ञान्न खाने से उसको अच्छी तरह पकाने की भी चिंता रहेगी और अच्छा पका हुआ सुस्वादु अन्न ही यज्ञ में गुणकारी होगा।

१ यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते॥ (मनुस्मृति ३।११८)

आहार करना चाहिये। यह बात आर्यों की आदिम सभ्यता के इतिहास से भी अच्छी तरह पुष्ट होती है। क्योंकि आदिम काल में तपस्वियों का आहार प्रायः फल फूल ही था, अन्न नहीं। वनस्थों के आहार का वर्णन करते हुए मनु लिखते हैं कि—

पुष्प-मूल-फलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत्सदा।
कालपक्वैः स्वयं शीर्णैर्वैखानसमते स्थितः॥ (मनुस्मृति ६।२१)

अर्थात् पुष्प* मूल अथवा काल पाकर पके और स्वयं टपके हुए फलों से वानप्रस्थी निर्वाह करे। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि रामचन्द्र, भरत, लक्ष्मण और सीता फलाहार करके ही तपस्वी जीवन निर्वाह करते थे। गुह-राज के आतिथ्य करने पर रामचन्द्र कहते हैं कि—

कुशचीराजिनधरं फलमूलाशनं च माम्।
विधिप्रणिहितं धर्मे तापसं वनगोचरम्॥
(वाल्मीकि रामायण अयोध्या० ५०।४४)

अर्थात् मैं कुशचीर पहने हुए, तापस भेष और मुनियों के धर्म में स्थित केवल फल फूल ही खाकर रहता हूँ। भरत ने भी कहा है कि—

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरोऽप्यहम्।
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन॥
(वाल्मीकि रामायण अयोध्या० ५०)

अर्थात् मैं भी चौदह वर्ष तक जटा धारण करके और फल मूल ही खाकर रहूँगा। लक्ष्मण भी कहते हैं कि—

आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च।
वन्यानि च तथाऽन्यानि स्वाहार्हाणि तपस्विनाम्॥
(वाल्मीकि रामायण अयोध्या० ३१।२६)

अर्थात् आपके लिये तपस्वियों के से वन्य पदार्थ लाकर दूंगा और मैं भी फल फूल ही खाकर रहूँगा। इसी तरह अयोध्याकाण्ड २७।१६ के अनुसार सीता जी भी कहती हैं कि 'फलमूलाशना नित्या भविष्यामि न संशयः' अर्थात्

* महुवा के एक ही वृक्ष में इतने अधिक फूल होते हैं कि उनसे एक आदमी पूरा एक साल निर्वाह कर सकता है। फूलों के सिवा उससे फल, तेल, पत्ते और लकड़ी आदि पदार्थ भी प्राप्त होते हैं जिनके कारण मनुष्य को फिर और किसी अन्य आहार की आवश्यकता नहीं रहती।

मैं सदैव फल फूल ही खाकर रहूंगी, इसमें सन्देह नहीं। इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि चौदह वर्ष तक फल फूल खाकर वृद्ध नहीं किन्तु जवान आदमी भी रह सकते थे और बड़े-बड़े योद्धाओं के साथ युद्ध करके विजय प्राप्त करते थे। अब भी युक्त प्रांत के बैसवाड़े में आम की फसल पर तीन महीने केवल आमों को ही खाकर लोग पहलवानी करते हैं। कहने का मतलब यह है कि आर्य सभ्यता के उच्चादर्श के अनुसार मनुष्य की खुराक फल, फूल, दूध, दही है। अन्न तो यज्ञशेष पुरोडाश ही के नाम से खाया जाता था। पर जब खेती बढ़ी और जंगलों का नाश हुआ तब लोग अन्न वाली जमीन का आश्रय करने लगे। कलियुग का वर्णन करते हुए महाभारत वनपर्व अध्याय १६० में लिखा है कि—

ये यवान्ना जनपदा गोधूमान्नास्तथैव च।
तान् देशान् संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते॥

अर्थात् जिन देशों में यव और गेहूँ आदि विशेष रूप से उत्पन्न होते हैं, कलियुग के लोग उन्हीं देशों का आश्रय लेंगे। इससे ज्ञात होता है कि दूसरे युगों में लोग उन देशों का आश्रय लेते थे, जहां फल-फूल ही अधिक हों, अन्न नहीं। यही कारण है कि हिन्दू जगत् में फलाहार की अब तक जितनी प्रतिष्ठा है, उतनी दूसरे खाद्य की नहीं है। फलाहार एक प्रकार का महान् उच्च आचरण और तप समझा जाता है। यही नहीं, किन्तु जितने व्रत, शुभ अनुष्ठान अर्थात् सतोगुणी कार्य हैं, सब में फलाहार ही का विधान है। इसका भाव स्पष्ट है कि फलाहार सात्त्विक आहार है, इसलिये सतोगुणी अनुष्ठानों में उसका उपयोग होता है। इसी से हम बलपूर्वक कहते हैं कि आर्य भोजन फलाहार ही है। इस आर्य भोजन की अधिक प्रतिष्ठा का कारण यह है कि फलाहार कामचेष्टा का भी प्रतिषेधक है। कोई मनुष्य यदि ब्रह्मचारी रहना चाहे, तो उसे फलाहार ही करना चाहिये। फलाहार से कामचेष्टा कम हो जाती है। इसलिये विधवा स्त्रियों को फलाहार के द्वारा काम को शरीर में ही शोषण करने के लिए मनु भगवान् ने विधान किया है*। इसके अतिरिक्त फल और फूलों ‡ से मनुष्य का सारा जीवन निर्विघ्नता से बीत सकता

* कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु॥ (मनुस्मृति)

‡ शास्त्रों में फूलों के खाने का वर्णन है। फूलों में महुवा एक विशेष लाभदायक फूल है।

है। आज भी साल के तीन मास हमारे अवध के बैसवारा प्रांत में आम, महुआ और जामुन से ही काटे जाते हैं। ज्येष्ठ से भाद्रमास तक आम, महुआ और जामुन के कारण बहुत से घरों में चूल्हा जलता ही नहीं, पर कोई भूख से व्याकुल या दुर्बल दिखलाई नहीं पड़ता। यह तो हुई आर्यशास्त्र और आर्यावर्त की बात। अब हम दूसरे देश के प्रमाणों से भी दिखलाना चाहते हैं कि फलाहारी लोग कितने बलवान्, परिश्रमी और दीर्घकाय होते हैं। एक ही प्रकार के फलों को खाकर मनुष्य की शारीरिक अवस्था का वर्णन करते हुए सीरिया प्रान्त के असअद याकूब कयात नामी एक विद्वान् ने अपने भाषण में कहा है कि मैं लेबेनन पर्वत पर गया था। वहां मैंने मनुष्यों को राक्षसों की भांति बलवान् और चंचल देखा। ये लोग केवल खजूर पर ही निर्वाह करते हैं इनमें से अनेकों की आयु एक सौ दश वर्ष की थी*।

इस वर्णन से ज्ञात होता है कि जब एक प्रकार के फल से इतना लाभ है, तो नाना प्रकार के फलाहार से बहुत बड़ा लाभ सम्भव है। अतएव स्पष्ट है कि मनुष्य फलों के द्वारा अच्छी प्रकार निर्वाह कर सकता है और फलाहार से दीर्घायु, दीर्घकाय और बलवान् भी हो सकता है। जो लोग समझते हैं कि फलाहार से मेहनत करने की ताकत नहीं रह जाती, वे भी गलती पर हैं। सन् १९०२ में जरमनी के विटसनटाइड नामक स्थान में अन्तरजातीय पैदल दौड़ हुई थी। यह दौड़ ड्रस्डन से बर्लिन तक १२४॥ मील लम्बी थी। दौड़ने वाले सब ३२ आदमी थे। मोसम गर्मी (अर्थात् १८ वीं मई सन् १९०२) का था। दौड़ने वाले ड्रस्डन से ७॥ बजे निकले। इनमें कुछ फलाहारी, कुछ शाकान्नहारी और कुछ मांसाहारी थे। शाकान्नहारियों में बर्लिन का प्रसिद्ध चलने वाला कार्लमान भी था। बर्लिन में जो सबसे पहिले पहुँचनेवाले ६ मनुष्य थे, वे तो शाकान्न और फलहारी ही थे इनमें कार्लमान प्रथम था। कार्लमान ने २६ घंटे और ५८ मिनट में यात्रा समाप्त की थी। दौड़ की

---

* Assad Yakoob Kayat, a native Syrian, in a speech at Exeter Hall (16th May 1838) remarked that he had lately visited Mount Lebanon, where he found the people as large as giants and there were many among them one hundred and ten years of age. (Fruits and Farinacea.)

समाप्ति पर वह बिलकुल तरोताजा था, किन्तु बड़े-बड़े प्रसिद्ध मांसाहारी पहलवान थकावट से चकनाचूर होकर पहुँचे थे। यह घटना बतलाती है कि मनुष्य मांसाहारी नहीं प्रत्युत फलाहारी है। क्योंकि मनुष्य के शरीर की बनावट, उसके दांत और आंतों को देखकर डाक्टरों ने निर्णय किया है कि मनुष्य की स्वाभाविक खुराक फल ही है। डाक्टर लुई कुन्हें के हवाले से पूज्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि मनुष्य का स्वाभाविक भोजन फल, फूल और कंद आदि हैं। स्वाभाविक भोजन के छोड़ने ही से हम लोग विविध भांति के रोगों से पीड़ित हो रहे हैं। अभ्यास से मनुष्य ने अपनी इन्द्रियों की स्वाभाविक शक्ति को ऐसा बिगाड़ा है कि जिस वस्तु को देखकर हमें घृणा होनी चाहिये, उसे ही हम प्रसन्नतापूर्वक खाते हैं। इस विषय में पशु ही हमसे अच्छे हैं। जो पशु घास खाते हैं, वे मांस की तरफ देखते भी नहीं और जो मांस खाते हैं, वे घास की ओर दृष्टिपात भी नहीं करते। इसी प्रकार फल और कंद आदि के खानेवाले जीव भी उन पदार्थों को छोड़कर घास-पात नहीं खाते और प्यास लगने पर भी सोडावाटर और मद्य नहीं पीते परन्तु मनुष्य एक विलक्षण पशु है। वह घास-पात, फल-फूल, मांस मदिरा सभी उदरस्थ कर जाता है। फिर भला उसका शरीर क्यों न रोगों का घर बन जावे? भोजन के अनुसार स्थलचर पशुओं के तीन भेद हैं— मांसभक्षी, वनस्पतिभक्षी और फलभक्षी। बिल्ली, कुत्ता और सिंह आदि जितने हिंस्र जन्तु हैं, वे सब मांसभक्षी हैं। उनका स्वाभाविक भोजन मांस ही है। इसीलिये उनके दांत लम्बे और नुकीले और दूर-दूर होते हैं। इस प्रकार के दांतों से ये जीव मांस को फाड़कर निगल जाते हैं। उनके दांतों की रचना से यह सूचित होता है कि ईश्वर ने इन्हें मांस खाने के लिये ही वैसे दांत दिये हैं। गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि जीव वनस्पति भक्षी हैं। इसीलिये ईश्वर ने उनके दांत ऐसे बनाये हैं, जिससे वे उन दांतों से घास को सहज ही में काट सकें। उनके दांतों की रचना ही उनके वनस्पतिभक्षी होने का प्रमाण है। किंतु मनुष्य के दांत न तो मांसभक्षी पशुओं से मिलते हैं और न घासभक्षी पशुओं से ही। उनकी बनावट ठीक वैसी ही है, जैसी बन्दर आदि फलभक्षी जीवों की होती है। इसलिये यह बात निर्विवाद है, निर्भ्रान्त है और निःसंशय है कि ईश्वर ने मनुष्यों के दांत फल खाने ही के लिये बनाये हैं। परन्तु हम लोग जब उनसे मांस और मछली काटने

लगे हैं, आगरे की दालमोठ और लखनऊ की रेवड़ी तोड़ने लगे हैं, इस पर भी कोई नीरोग होने का दावा कर सकता है।

मांसभक्षी जीवों का मेदा छोटा और गोल होता है। उनके शरीर से उनकी अंतड़ियां ३ से लेकर ९ गुणा तक अधिक लम्बी होती हैं। वनस्पति-भक्षी पशुओं का मेदा बहुत बड़ा होता है। वे खाते भी अधिक हैं। उनकी अंतड़ियां उनके शरीर से २० से लेकर २८ गुना तक अधिक लम्बी होती हैं। अब रहे फलभक्षी जीव। उनका मेदा मांसभक्षी जीवों के मेदे से अधिक चौड़ा होता है और उनकी अंतड़ियां उनके शरीर से १० से लेकर १२ गुना तक अधिक लम्बी होती हैं। अब इन तीनों प्रकार के जीवों से मनुष्य का मिलान कीजिये। सिर से लेकर रीढ़ की हड्डी के छोर तक मनुष्य की लम्बाई १॥ से २॥ फुट तक होती है और मनुष्य की अंतड़ियों की लम्बाई १६ से २८ तक होती है। अर्थात् उनकी लम्बाई शरीर (सिर से लेके रीढ़ के छोर तक) की लम्बाई से १० से १२ गुना तक अधिक हुई। यहां भी फलभक्षी पशुओं से मनुष्यों की समता मिली। शरीर के अनुसार मनुष्य की अन्तड़ियां फल खाने वाले पशुओं ही की सी निकलीं। अतएव मनुष्य के फलभक्षी होने का यह दूसरा प्रमाण हुआ।

इसी तरह 'Odontography' नामी ग्रन्थ के पृष्ठ ४७१ में प्रोफेसर ओवन(Owen) कहते हैं कि मनुष्यों के दांत वनमानुष और बन्दरों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं और इनका भोजन भी फल, अन्न एवं मेवा एक ही प्रकार का है। इन चौपायों और मनुष्यों के दांत-सम्बंधी सादृश्य से विदित होता है कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों के लिए स्वाभाविक भोजन फल ही निर्माण किया गया था। इसी सम्बन्ध में लिनाकुस(Linnacus) कहता है कि फल, मूल मनुष्यों के लिये अत्यन्त हितकर भोजन है, जो चौपायों से प्रकाशित होता है, तथा जंगली मनुष्य और लंगूरों से सादृश्य एवं इनके मुख, पेट और हाथों की बनावट से भी प्रकट है*। इसी तरह डाक्टर एब्रामाउस्की जो एक प्रसिद्ध चिकित्सक हैं और जिन्होंने सब रोगों की एक ही सहज दवा निकाली है, लिखते हैं कि "हम जो पका हुआ, रंधा हुआ, भुना हुआ, कृत्रिम भोजन करते हैं, वह हमारे लिए बहुत ही अस्वाभाविक है। हमारे शरीर के बढ़ने तथा पुष्टि पाने के लिये प्रायः ऐन्द्रिक पदार्थों (Organic Matter) की

* Linnaei Amoonitales Academical, Vol. X, p. 8

ही आवश्यकता होती है। फलों तथा अनाजों में बहुतायत से विद्यमान रहता है। किन्तु यदि फलों तथा अनाजों को अग्नि में पकाया जावे, तो उनका बहुत सा ऐन्द्रिक अंश पृथक् हो जाता है। शेष पदार्थ न केवल मुश्किल से पचने वाला ही होता है, किन्तु पचकर हमारे शरीर के लिये कुछ लाभ भी नहीं दे सकता। जब ऐसा भोजन करने में बहुत सा अनुपयोगी पदार्थ हमारे शरीर में घर कर लेता है, तब अनेकों रोगों की उत्पत्ति होती है। प्रायः सभी आन्तरिक रोगों की उत्पत्ति इसी निकम्मे पपार्थ के एकत्रित हो जाने से होती है। अतः इन सब रोगों का एक यही इलाज है कि किसी प्रकार वह अनुपयोगी पदार्थ हमारे शरीर से निकल जाय और नया प्रवेश न करे। ऐसा होते ही वे रोग स्वयं ही नष्ट हो जावेंगे। इसीलिए प्रायः नई सम्मति के चिकित्सक लोग भी रोगियों से उपवास करवाते हैं। उन्हें कई दिन तक सिवा गर्म पानी के और कुछ नहीं देते। यह औषधि प्रायः बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई है। यथाशक्ति उपवास से प्रायः रोग दूर हो जाता है। किन्तु इस औषधि के करने में एक डर यह है कि कभी-कभी बहुत दिन तक शरीर को आधारभूत पदार्थ न मिलने से रोगी इतना निर्बल हो जाता है कि वृद्धि होने की जगह धीरे-धीरे क्षय का राज्य हो जाता है और रोगी थोड़े ही दिनों में मृत्यु का ग्रास बन जाता है। इसलिये खाली उपवासके स्थान में फलोपवास अधिक उपयोगी है। क्योंकि फलों के खाने से कोई अनुपयोगी पदार्थ शरीर में नहीं घुसता और बल प्राप्त होता है,रोग नष्ट हो जाता है और शक्ति नहीं घटती।"

इन विदेशीय प्रमाणों से भी सिद्ध होता है कि मनुष्य की आदिम और मौलिक खूराक फल ही है और फलों के सेवन से मनुष्य कभी बीमार तो होता ही नहीं प्रत्युत यदि बीमार हो भी तो अच्छा हो जाता है और सुदृढ तथा दीर्घजीवी हो जाता है। इसीलिये आर्यों ने अपनी मूल सभ्यता में फल और दूध को ही स्थान दिया है और कृषि को तथा कृषि से उत्पन्न होने वाले अन्नों को आपत्काल में खाने की व्यवस्था की है। व्रतों और उपवासों में फलाहार की महिमा से तथा आर्य रिवाजों और आर्य सभ्यता में पिरोई हुई विशेषताओं से यही सूचित होता है कि आर्यों का आहार सात्विक ही है, जिसमें फल और दूध, घृत की ही प्रधानता है। क्योंकि फल, फूल और दूध घृतादि सात्विक आहार ही अर्थ की पांचों शर्तों के साथ संग्रह हो सकते हैं और उन्हीं से आयु, बल, कांति, [illegible] और [illegible] आदि भी प्राप्त हो सकते हैं, तथा उन्हीं

के आहार से संसार में किसी की आयु और भोगों में हस्तक्षेप भी नहीं हो सकता और योगाभ्यासादि मोक्षसाधन में भी सहायता मिलती है। इसीलिये आर्यों ने अपनी सभ्यता में सात्विक आहार ही को स्थान दिया है।

आर्य वस्त्र और वेशभूषा

अर्थ में भोजन के बाद दूसरा नम्बर वस्त्रों का है। भोजन की तरह आर्य-सभ्यता में वस्त्रों पर भी विशेष प्रकाश डाला गया है। और सिलाई का काम जानते हुए भी[1] आर्यों ने अपनी सभ्यता में कभी सिले हुए वस्त्रों को स्थान नहीं दिया। बुद्ध भगवान् के समय तक इस देश के आर्य सिला हुआ वस्त्र नहीं पहनते थे। क्योंकि बौद्ध काल के पूर्व लिखित साहित्य में कहीं भी सिले हुए वस्त्रों का वर्णन नहीं है। बौद्ध मूर्तियों में सिले हुए वस्त्रों का कहीं दर्शन नहीं होता। बंगाल और उड़ीसा आदि प्रान्तों में अब भी ग्रामीण आर्य सिला हुआ वस्त्र नहीं पहनते। कुलीन आर्यों में अब तक पंक्तिभोजन के समय, देवा-राधन अथवा यज्ञादि के समय और यज्ञोपवीतादि संस्कारों के समय सिले हुए वस्त्रों का उपयोग नहीं होता। देवपूजन के समय यदि कोई सिला हुआ वस्त्र पहने होता है, तो उसका बटन खुलवा दिया जाता है। इसके सिवा विवाह के समय वर और वधू को वस्त्र और उपवस्त्र ही के देने का विधान है, सिला हुआ वस्त्र देने का नहीं[2]। वस्त्र और उपवस्त्र का आधुनिक नाम धोती उपर्ना है। बंगाल और उड़ीसा में यह धोती उपर्ना एक ही में बुना हुआ बिकता है। नदिया शान्तीपुर का धोती उपर्ना प्रसिद्ध था। इसमें एक धोती और दुपट्टा ही होता था। यही पोशाक स्त्रियों की भी थी। वे भी एक धोती और एक चादर ही धारण करती थीं। अब भी पंजाब, युक्तप्रान्त, बंगाल और महाराष्ट्र में यह रिवाज है। महाराष्ट्र में तो गर्मी के दिनों में भी स्त्रियां शाल ओढ़ती हैं। इन समस्त रिवाजों से ज्ञात होता है कि आर्य सभ्यता में सिले हुए वस्त्र के लिए स्थान नहीं है। उनकी असली आर्य पोशाक धोती और दुपट्टा ही है। महा-भारत मीमांसा पृ० २६३।२६४ में श्रीयुत रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य, एम० ए० लिखते हैं कि 'महाभारत' के समय भारतीय आर्य पुरुषों की पोशाक बिलकुल सादी थी। दो धोतियां ही उनकी पोशाक थी। एक धोती

---

१. वर्म सीव्यध्वं, सूच्यच्छिद्यमानः (ऋग्वेद); मूर्द्धानमस्य संसीव्य (अथर्ववेद)
२. संस्कारविधि (स्वामी दयानन्द सरस्वतीकृत)

कमर के नीचे पहिन ली जाती थी और दूसरी शरीर पर चाहे जैसे डाल ली जाती थी। उल्लिखित दोनों वस्त्रों के सिवा भारतीय आर्यों की पोशाक में और कपड़े न थे।......आजकल स्त्रियां जैसे लहंगे आदि वस्त्र पहनती हैं, वैसे उस समय न थे। पुरुषों की तरह, पर इनके वस्त्रों से लम्बे, स्त्रियों के वस्त्र होते थे।

वस्त्रों की आवश्यकता के दो ही कारण हैं। एक वर्षा और सर्दी गर्मी से रक्षा और दूसरा लज्जानिवारण। सर्दी-गर्मी और वर्षा के ही कारण रुई, ऊन और चर्म अथवा वल्कल आदि वसनों का विधान है परन्तु आर्यों की उच्चतम आदर्श सभ्यता में ऊन और रेशम के वस्त्रों का विधान नहीं है। संन्यासी के लिए ऊन और रेशम का वस्त्र पहनना उचित नहीं समझा गया[1]। हां, प्रवास के समय पहाड़ी प्रदेशों में जहां बर्फ पड़ता है, वहां के लिए ऊन के वस्त्र उपयोगी कहे गये हैं। अब रही लज्जानिवारण की बात। वह सर्दी गर्मी से अधिक आवश्यक है। क्योंकि परमात्मा की यही आज्ञा है कि गुप्ताङ्गों को खुला न रक्खा जाय। उसने पशु और पक्षियों के भी गुप्ताङ्गों को पूँछ से ढक दिया है। इसलिये मनुष्य को उचित है कि वह गुप्ताङ्गों को ढका रक्खे। वेद में लिखा है कि 'मा ते कशप्लकौ दृशन्' अर्थात् तेरे गुप्ताङ्ग न दिखने पावें। इसलिए गुप्ताङ्गों का ढकना आवश्यक है। पर स्मरण रखना चाहिये कि गुप्ताङ्गों का पर्दा और सर्दी-गर्मी से रक्षा बहुत ही थोड़े और बहुत ही सादे वस्त्रों से हो जाती है। इसलिए जहां आर्य सभ्यता, शरीररक्षा और पर्दा के लिए वस्त्र की अनिवार्य आज्ञा देती है, वहां काम-काज में असुविधा और विलास, असमानता तथा ईर्ष्या द्वेषादि के उत्पन्न करने वाले वस्त्रों के उपयोग को मना भी करती है। आर्य सभ्यता उतने ही और उसी प्रकार के वस्त्रों की आज्ञा देती है, जिनसे काम-काज करने में सुविधा हो। धोती ऐसी ही पोशाक है। धोती की उपयोगिता के विषय में मिसिज मिनिङ्ग (Manning) कहती हैं कि, समस्त पोशाकों में धोती पूर्ण है और चलने फिरने, उठने बैठने में सुविधा देने वाली है। इससे अच्छी दूसरी पोशाक असम्भव है[2]। इसी तरह लार्ड डफरिन कहते

१ ऊर्णा केशोद्भवा ज्ञेया मलकीटोद्भवः पटः।
कस्तूरीरोचनं रक्तं वर्जयेदात्मवान् यतिः॥
वस्त्रं कार्पासजं ग्राह्यम्। (कात्यायनस्मृति)

२ Any dress more perfectly convenient to walk, to sit, to lie in, it would be impossible to invent. (Ancient and Mediaeval India, Vol. II, p. 358.)

हैं कि 'पोशाक के विषय में पश्चिम को पूर्व से बहुत कुछ सीखना है[1]।' इस धोती और चादर की पोशाक से जहां अंगरक्षा, पर्दा और काम काज में सुविधा होती है, वहां समाज में विलास और ईर्ष्या-द्वेष नहीं बढ़ता। समाज को विलासी और असमान बनाने वाली पोशाक ही है। अपने घर में मनुष्य ने चाहे जो कुछ खाया हो, पर उसका प्रत्यक्ष अनुभव समाज को नहीं होता। किन्तु पोशाक बाह्य आडम्बर है—यह दिखलाई पड़ती है—इसलिये इससे समाज में विलास और असमानताजन्य ईर्ष्या-द्वेष के उत्पन्न हो जाने का भय रहता है। तर्ज, फैशन और बनावट से समाज में असमानता उत्पन्न होती है, इसीलिए आर्य सभ्यता में सादी सीधी धोती और चादर ही के पहिनने ओढ़ने की आज्ञा है।

वर्तमान समय में वस्त्रों के अनेकों तर्ज और फैशनों से भले आदमी कहलाने वाले गृहस्थों को कितना कष्ट हो रहा है, यह किसी समझदार आदमी से छिपा नहीं है। साल की सारी कमाई कपड़ों में ही जाती है, तब भी पोशाक में कमी बनी रहती है। एक-एक गृहस्थ के घर में एक-एक आदमी के लिए चार-चार छः छः सन्दूक कपड़े रक्खे हुए हैं और उनका सारा दिन उन्हीं के बदलने में व्यतीत होता है। अतएव मनुष्य के लिए उतने और उसी प्रकार के वस्त्र होने चाहिएं जिनको वह रक्षा और पर्दा के लिये खुद ही तैयार कर ले। इस दृष्टि से भी धोती और चादर का ही महत्त्व समझ में आता है। इस समय लहँगा, पाजामा, पतलून और कुरता, कोट कमीज तथा चुगा आदि जितने सिले हुए वस्त्र पाये जाते हैं, सब उन्हीं धोती चादर के ही रूपान्तर हैं। धोती से तहमद और लहँगा बना है। इन्हीं दोनों के मेल से ढीला पाजामा, पाजामा, पतलून और जोधपुरी आदि बनी हैं। इसी तरह चादर से कफनी (जिसको बीच में फाड़ कर गले में डाल लेते हैं), कफनी से कुरता और कुरता से कोट और चुगा आदि बने हैं। इसी तरह शिर के केशों से साफा की और साफा से टोपी की सृष्टि हुई है। प्राचीन मौलिक आर्य-सभ्यता की पोशाक में नीचे धोती, शरीर में चादर का ओढ़ना, शिर पर केशों का मुकुट और गले में फूलों की माला है। यही फैशन सुविधाजनक भी है। किन्तु आजकल की पोशाक के कारण जरा सा कीचड़ हो जाने पर, नदी उतरते समय, लगी हुई आग को

---

1 The West has still much to learn from the East in matters of dress.

बुझाते समय अथवा और भी किसी दौड़-धूप के समय बड़ी ही दुर्दशा होती है। परन्तु धोती चादर में यह असुविधा नहीं है।

आर्य सभ्यता में केशों का भी बड़ा माहात्म्य है। बाल वृद्धादि असमर्थों के अतिरिक्त किसी आर्य को केश कटाने की आज्ञा नहीं है। बाल्यकाल में जब लड़का असमर्थ होता है, तब उसका मुण्डन कर दिया जाता है और जब अत्यन्त वृद्ध होकर अथवा शरीर रोगी होकर असमर्थ हो जाता है, तब भी मुण्डित करने की आज्ञा है। संन्यासियों का मुण्डन इसी दशा का सूचक है। इन दशाओं के अतिरिक्त आर्यों को सदैव डाढ़ी, मूछ और शिर के केशों की रक्षा करना चाहिये। इस कठिन नियम का यह कारण है कि बालों में विद्युत्-ग्रहण करने की अद्भुत शक्ति है। इस शक्ति के सहारे केशों के द्वारा द्यौ-तत्त्व मनुष्य के मस्तिष्क में ज्ञानतन्तुओं को बल पहुँचाता है। वेद में लिखा है कि 'बृहस्पति प्रथमः सूर्यायै शीर्षे केशमकल्पयत्' अर्थात् ज्ञानाधिष्ठान बृहस्पति—आकाश—ने पहिले ही सूर्य के द्वारा शिर में केशों को उत्पन्न किया। इससे ज्ञात होता है कि ज्ञान और सूर्य का केशों के साथ अपूर्व सम्बन्ध है। क्योंकि रंग सूर्य से उत्पन्न होता है और मनुष्यशरीर के केश अपना रंग चार बार पलटते हैं।

बाल्यकाल में जब ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती, तब बालक के बालों का रंग पीत लाल होता है और जब वृद्धावस्था में ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति नहीं रह जाती, तब बालों का रंग सफेद हो जाता है किन्तु युवावस्था में जब ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति पूर्ण रूप से विद्यमान रहती है, तब बालों का रंग काला रहता है। काले रंग में सूर्य की किरणों का प्रभाव विशेष पड़ता है, इसीलिए काले केशवाले युवा मनुष्य ही ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति भी रखते हैं। यह बालों के रंगों का परिवर्तन केवल मनुष्यों में ही देखा जाता है, पशु-पक्षियों में नहीं। इससे और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि, असमर्थ दशा को छोड़कर अन्य समस्त दशाओं में केशों को धारण ही किये रहना चाहिये। इसीलिये कहा गया है कि 'जटिलो मुण्डितो वा' अर्थात् चाहे समस्त केश रक्खे और चाहे मुंडवा दे। तात्पर्य यह कि जो समर्थ हैं, वे रक्खें और जो असमर्थ हैं, निकलवा दें। निकलवा देना बाल वृद्ध और रोगियों के लिए ही है। क्योंकि वेद में ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थी आदि सभी स्त्री-पुरुषों के लिये केश रखने का उपदेश किया गया है। ब्रह्मचारी के लिए अथर्ववेद ११।

३। ६ में लिखा है कि—

'ब्रह्मचार्य्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।

इसमें ब्रह्मचारी को दीर्घ श्मश्रुवाला अर्थात् बड़े-बड़े दाढ़ी मूंछोंवाला कहा गया है। ब्रह्मचारी के लिए दूसरी जगह स्पष्ट लिखा है कि 'क्षुरकृत्यं वर्जय' अर्थात् ब्रह्मचारी को बाल बनवाना मना है। जिस प्रकार ब्रह्मचारी के लिए बाल बनवाना मना है, उसी तरह गृहस्थ के लिये भी मना है। राजा के लिये लिखा है कि—

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा मे प्राणो अमृतꣳ सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्॥ (यजु० २०।५)

इसमें राजा के शिर के केशों और दाढ़ी, मूंछों की भी प्रशंसा की गई है। इसी तरह वनस्थ के लिये भी लिखा है कि 'जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च' अर्थात् वानप्रस्थ सदैव जटा रक्खे और कभी बाल और नाखून न कटावे। कहने का मतलब यह है कि असमर्थ दशा के अतिरिक्त आर्य सभ्यता के अनुसार मनुष्य को कभी केश और बाल न निकलवाना चाहिये। वेदों में जहां बालों के रखने का आदेश किया गया है वहां उनके स्वच्छ रखने का भी उपदेश है। अथर्ववेद में लिखा है कि 'कृत्रिमः कण्टकः शतदन्, शीर्षकेश अपः लिखात्' अर्थात् अनेक कृत्रिम कांटों वाले कंघे से शिर के बालों का विन्यास किया जावे। इन समस्त आज्ञाओं से पता लगता है कि आर्य सभ्यता में केशों की रक्षा का विधान है। यही नहीं, किन्तु इतिहास और प्राचीन चित्रकला से भी पाया जाता है कि ऋषि, मुनि और राजा, महाराजा सब केश रखते थे। रामचन्द्र के शिर पर केश पहले ही से बड़े बड़े थे, तभी वे तुरन्त ही वटक्षीर से उन्हें जटिल बना सके। कृष्ण, अर्जुन और अन्य योद्धाओं के वर्णनों में भी केश संभालने का जिक्र आता है। ऋषि तो जटाधारी थे ही। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल में केशों से ही आर्यों और दस्युओं की पहचान भी होती थी।

प्राचीन काल में जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की पहिचान के लिए सूत, सन और ऊन का यज्ञोपवीत पहिना जाता था, उसी प्रकार आर्य और दस्यु की पहिचान के लिए शिर के केशों में एक ग्रन्थि लगाई जाती थी। जिसके शिर में ग्रन्थि होती थी, वे आर्य और जिनके शिर के केशों में ग्रन्थि न होती थी, वे दस्यु अर्थात् अनार्य

समझे जाते थे। इसका कारण यह है कि आर्यों के अन्दर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार उपभेद थे। इन चारों में से तीन द्विज थे, जो यज्ञोपवीत की भिन्नता से पहचाने जाते थे, किन्तु शूद्र आर्य होते हुए भी यज्ञोपवीत नहीं पहनते थे, अतएव वे केशों की ग्रन्थि से ही पहचाने जाते थे। इस प्रकार से केश-ग्रन्थि आर्यत्व का चिन्ह था। कभी कारणवश जब लोग शिर के बाल मुंडवा डालते थे, तो ग्रन्थि के लिए थोड़े से बाल रख लेते थे और उसी को शिखा कहा करते थे, अर्थात् आर्यत्व का चिह्न शिखा थी और द्विजातिभेद का चिह्न सूत्र था। सूत्र द्विजों का और शिखा आर्यत्व का चिह्न थी, यह हमारी केवल कल्पना नहीं है, प्रत्युत सप्रमाण सिद्ध है कि पूर्वसमय में जब-जब कभी आर्यों ने किसी को भी जातिच्युत करके अनार्य किया है अथवा उसे आर्यों से पृथक् करके दस्यु बनाया है, तब-तब उसके केशों को कटवा दिया है। अथवा शिखाग्रंथि को खुलवा दिया है। ये बातें महाभारत, हरिवंश और विष्णु-पुराण में अच्छी तरह वर्णन की गई हैं। अतः हम यहां इस विषय के दो श्लोक लिखते हैं—

> अर्धं शकानां शिरसो मुंडयित्वा व्यसर्जयत्।
> यवनानां शिरः सर्वं काम्बोजानां तथैव च॥
> पारदाः मुक्तकेशाश्च पह्लवाः श्मश्रुधारिणः।
> निःस्वाध्यायवषट्काराः कृतास्तेन महात्मना॥

अर्थात् शकों का आधा शिर मुंडवा दिया गया, यवनों का कुल शिर मुंडवा दिया गया, काम्बोजों का समस्त शिर मुंडवा दिया गया, पारदों की शिखाग्रंथि खुलवा दी गई और पह्लवों के केवल मोछ रक्खे गये और शिर के दाढ़ी के बाल मुंडवा दिए गये। इन वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि शिर के केश अर्थात् शिखा आर्यत्व का चिन्ह समझी जाती थी। आगे को जाने दीजिये, अभी १०० वर्ष पहिले भी यही रिवाज था कि कभी किसी पतित को त्यागते थे तो उसका शिर मुंडवाकर और गधे पर चढ़ा कर निकलवा देते थे। इन घटनाओं से समझ में आ जाता है कि हमारे केश किस प्रकार विज्ञान से भरे हुए, धार्मिक, ऐतिहासिक और आर्यत्व के प्रतिपादन करने वाले हैं। हम देखते हैं कि आजकल लोग हिन्दू (आर्य) का लक्षण अनेक प्रकार का करते हैं, पर विना आर्य इतिहास के समझे वे हिन्दू का ठीक-ठीक लक्षण ही नहीं कर सकते। वह वैदिक जानते हैं कि शिखासूत्रधारी को आर्य (हिन्दू)

कहते हैं। शिखा में सिक्ख, बौद्ध, जैन, शूद्र और कोलभील समा जाते हैं और सूत्र में द्विजाति तथा पारसी आ जाते हैं और इस प्रकार से केशों की खूबी समझने पर आर्य-फैशन, आर्यवेशभूषा और आर्यपोशाक का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

आर्य सभ्यता में केशों की भांति नाखूनों का भी बड़ा महत्त्व है। नाखूनों द्वारा श्रम की इयत्ता अर्थात् मर्यादा और प्रकार अर्थात् विधि से सम्बन्ध रखने वाली दो बातें जानी जाती हैं। एक तो यह कि ऐसे काम किये जायं, जिनसे नाखून आप ही आप घिस जायं, काटना न पड़े और दूसरा यह कि इतना काम किया जाय, जिससे न तो नाखून परिमाण से अधिक घिस ही जायं और न बने ही रहें। खेती करने वाले किसान और घरों में काम करने वाली स्त्रियों को कभी नाखून काटने की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु कसरत के द्वारा श्रम करने वालों को अथवा कुछ भी काम न करने वालों को नाखून कटाने पड़ते हैं। इससे ज्ञात होता है कि न तो निकम्मे बैठना ही अच्छा है, और न डण्ड बैठक जैसे व्यर्थ श्रमों का करना ही अच्छा है, प्रत्युत इस प्रकार का काम करना अच्छा है, जिस प्रकार के काम किसान अथवा घर में काम करने वाली स्त्रियां करती हैं। किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि कृषकों के समान काम करने वालों के भी नाखून इतना न घिस जाना चाहिये कि, जिससे जिंदा नाखून कट जाय। मनुष्यों को श्रम करने का क्षेत्र केवल भोजन और वस्त्रादि उत्पन्न करना ही है।

इस लिए तत्सम्बन्धी श्रम ही उसके लिए आवश्यक है। किन्तु दुःख से कहना पड़ता है कि कसरत करने वाले व्यर्थ ही घण्टों श्रम करते हैं और उस श्रम से कुछ भी जीविका उत्पन्न नहीं कर सकते। उलटा दूसरों की कमाई खाते हैं और अपनी खुराक में इतना अधिक खर्च करते हैं कि एक पहलवान की खुराक में चार भले आदमियों का निर्वाह हो सकता है। अगर नाखून का विज्ञान ज्ञात होता, तो वे कभी ऐसा न करते। नाखून काटना निकम्मेपन की दलील है। २५ वर्ष पूर्व चीन में वह आदमी अधिक अमीर समझा जाता था जिसके नाखून बहुत बड़े हों। यह अमीरत की स्पर्धा यहां तक बढ़ गई कि लोगों के नाखून चार-चार इञ्च बढ़ गये थे। नाखून बढ़ाने की गरज से वे लोग कुछ भी काम नहीं करते थे। तात्पर्य यह कि नाखून चाहे बढ़ाये जायं और चाहे बढ़े हुए कटाये जायें, दोनों का अर्थ निकम्मापन ही है। पर आर्यसभ्यता

सिखलाती है कि वानप्रस्थी फल, फूल खाकर रहें और केश तथा नाखून न कटाएँ। इसका मतलब स्पष्ट है कि वानप्रस्थ वन और वाटिकाओं में श्रम करके खूराक पैदा करें, जिससे नाखून आप ही आप घिस जांय। यह बात आज भी वनवासियों में देखी जाती है। जंगलनिवासी न कभी नाखून काटते हैं और न कभी उनके नाखून बढ़े हुए देखे गये हैं। इससे यही ज्ञात होता है कि नाखून हमारे श्रम की कसौटी है—पैमाना है—इसलिए नाखून कभी न काटना चाहिये, प्रत्युत खेतों और वाटिकाओं में इतना और इस प्रकार का काम करना चाहिये, जिससे नाखून स्वयं घिस जांय।

आर्य सभ्यता में धातु के आभूषणों के लिए स्थान नहीं है। क्योंकि वैदिक आर्य सुगन्धित फूलों के ही आभूषण पहनते थे। वे सोने चांदी के आभूषण तो पशुओं (गायों) को पहिनाते थे। इतना होने पर भी वे सुवर्ण के गुणों को खूब जानते थे, इसलिए यद्यपि सुवर्ण के आभूषण नहीं पहनते थे, पर सुवर्ण को शरीर के किसी न किसी भाग में लगा हुआ अवश्य रखते थे। इसका कारण यह है कि आर्यों की सभ्यता के अनुसार सुवर्ण का धारण करना और सुवर्ण अथवा चांदी का आभूषण पहनना दोनों अलग-अलग बातें मानी गई हैं। जिस प्रकार बिना चेन की घड़ी केवल समय देखने के लिए गुप्त रीति से पाकेट में पड़ी रहना एक बात है और सोने की सुन्दर चेन में घड़ी को बांधकर कलाई में पहनना दूसरी बात है। उसी तरह सुवर्ण धारण करना और सुवर्ण का आभूषण पहिनना दोनों अलग अलग समझा गया है। कलाई में सुवर्ण की चेन के साथ बांधना आभूषण की श्रेणी में है और समय देखने के लिए घड़ी का पाकेट में पड़ा रहना सुवर्ण के धारण करने की श्रेणी में है। जिस प्रकार घड़ी का मुख्य उद्देश्य समय देखना है, आभूषण बनाना नहीं, उसी तरह सुवर्ण का शरीर में लगा रहना स्वास्थ्य के लिये है, आभूषण के लिए नहीं।

आर्य सभ्यता में सुवर्ण आयुर्वर्धक माना गया है। यही कारण है कि आर्य लोग लड़के के पैदा होते ही सुवर्ण की शलाका से उसकी जिह्वा में ओ३म् लिखते हैं और मरने के समय भी बीमार के मुंह में सुवर्ण डालते हैं। सुवर्ण डालते ही नहीं प्रत्युत मृत्यु के कई दिन पूर्व से सुवर्ण के बने हुए चन्द्रोदयादि रसों का प्रयोग करना आरम्भ कर देते हैं। जन्ममृत्यु के समयों के अतिरिक्त भी कुण्डल अथवा मुद्रिका के रूप में सदैव सुवर्ण को धारण

किये रहते थे, पर कुंडल और अंगूठी को आभूषण नहीं समझते थे। कुंडल का अर्थ गोल छल्ला है और अंगूठी भी एक छल्ला ही है। छल्ला आभूषण नहीं है, क्योंकि इसमें कुछ भी कारीगरी नहीं होती—फूल पत्ती का काम नहीं होता। कानों में छिद्र होने के कारण ही औषधिरूप कुंडल पहने जाते हैं, आभूषण के लिए नहीं। क्योंकि सुवर्ण के वर्कों और सुवर्ण से बने हुए चन्द्रोदयादि रसों के खाने से अच्छी प्रकार ज्ञात होता है कि सुवर्ण में दीर्घायु का गुण है। इसी गुण का वर्णन करते हुए वेद में बतलाया गया है कि दीर्घायु के लिए सुवर्ण अवश्य धारण करना चाहिये। अथर्ववेद और यजुर्वेद में लिखा है कि—

पुनाति एव एनं यो हिरण्यं बिभर्ति। (अथर्व १९।२६।९)
जरामृत्यु र्भवति यो हिरण्यं बिभर्ति। (अथर्व १९।२६।१)
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः।
स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः॥ (यजुर्वेद ३४।५)

अर्थात् सुवर्ण उसको पवित्र कर देता है, जो उसे धारण करता है। जो सुवर्ण धारण करता है, वह वृद्ध होकर मरता है। जो उत्तम सुवर्ण धारण करता है वह दीर्घजीवी होता है।

सुवर्णके इस महान् गुण के ही कारण शतपथ ब्राह्मण ४।३।२४ और १०।४।१।६ में 'आयुः हिरण्यं, अमृतं हिरण्यं' अर्थात् सुवर्ण आयु है और सुवर्ण अमृत है कहा गया है। इसी गुण के कारण आर्य लोग जन्म से मृत्यु पर्यन्त सुवर्ण को कान में या अंगुली में पहनते थे*। पर इन छल्लों को भी आभूषण नहीं कहते थे। आभूषण तो वे सदैव फूलों का ही पहनते थे। क्योंकि फूलों के आभूषणों से मन प्रफुल्लित होता है और शीतलता प्राप्त होती है। यही कारण है कि ऋषि लोग फूलों के आभूषण बनाकर ऋषिपत्नियों को पहिनाते थे। 'एक बार चुनि कुसुम सुहाये। निज कर भूषण राम बनाये। सीतहि पहिराये प्रभु सादर' का सुन्दर वर्णन रामायण में किया गया है।

इससे ज्ञात होता है कि आर्य लोग आभूषण फूलों के ही पहिनते थे और कुंडल आदि सादे छल्ले तो केवल आरोग्यता प्राप्त करने के ही अभिप्राय से

* अण्डवृद्धि को रोकने के लिए कर्णवेधसंस्कार होता है और कान में छिद्र किया जाता है। इस छिद्र की रक्षा एवं सुवर्ण का धारण कुंडलों से ही हो जाता है, इसलिए कान में सुवर्ण पहनने का रिवाज हो गया।

पहिनते थे, आभूषणों के अभिप्राय से नहीं। आर्य सभ्यता से सम्बन्ध रखने वाले जितने प्राचीन आभूषण हैं, उनके नामों से ज्ञात होता है कि वे फूलों के ही होते थे। कर्णफूल, कण्ठश्री और वेणीपर्ण आदि नाम फूल, पत्तों के ही सूचक हैं। इसके अतिरिक्त जितने आभूषण हैं, सबमें बेल, फूल, कली और पत्ते ही बने होते हैं। फूल पत्तों की ही नक्काशी होती है, अतएव यह बात निर्विवाद है कि आदिम काल में आर्यों के आभूषण फूलों के ही होते थे। परन्तु अनुमान होता है कि कुछ दिन के बाद गोभक्त आर्यों ने कारीगरों से सोने के फूलपत्ते बनवा कर और उनमें फूलों के ही रंगों के मूल्यवान् पत्थर जड़वा कर गायों के लिये आभूषण तैयार करवाये और मणिगुच्छखचित आभूषणों से अपनी गायों को सजाया। फल यह हुआ कि कुछ दिन के बाद फूलों के आभूषणों के स्थान में सुवर्ण के आभूषण बनने लगे और सब लोग धातुनिर्मित अनेक प्रकार के गहने पहिनने लगे। परन्तु आर्यों की आदिम सभ्यता में धातुनिर्मित आभूषणों के लिये बिलकुल ही स्थान नहीं है। जिस प्रकार उनके वस्त्र सादे हैं और जिस प्रकार उनका भेष सादा है उसी प्रकार उनकी भूषा भी सादी ही है।

आर्य गृह, ग्राम और नगर

अर्थ की तीसरी शाखा गृह है। सर्दी, गर्मी और वर्षा के कष्ट से बचने तथा अन्य सामाजिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए यद्यपि घर की आवश्यकता मनुष्य मात्र को होती है, तथापि आर्य सभ्यता में गृह अर्थात् घर का विशेष महत्व है। इसका कारण यह है कि आर्यों की आश्रम व्यवस्था के अनुसार उनके समाजकी आधे से भी अधिक जनसंख्या के पास निज का घर नहीं होता। ब्रह्मचारी, वनस्थ, संन्यासी और अन्य ऐसे ही उपयोगी मनुष्य केवल गृहस्थों के ही घरों में आश्रय ग्रहण करते हैं। इसलिए आर्यों को घर के विषय में बहुत ही सोच समझकर नियम बनाने पड़े हैं। हमने जिन ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासियों के बिना घर द्वार के लिखा है, उनमें वानप्रस्थी और संन्यासी दोनों आर्यजीवन का अन्तिम उद्देश्य पूरा करने के लिए मोक्ष-मार्ग का पूर्ण अवलम्बन किये हुए विचरते हैं। तीसरे ब्रह्मचारी लोग गृहस्थ बनकर और फिर उन्हीं दोनों का अनुकरण करने वाली शिक्षा और दीक्षा को प्राप्त करते हुए फिरते हैं। इन तीन वर्गों ... और स्वयं दोनों

अन्तिम दलों में प्रवेश करने के लिये ही गृहस्थाश्रम की व्यवस्था है। इसीलिए तीन भाग जनता के पास मकान नहीं होते और एक भाग जनता के पास मकान होते हैं, जो केवल उपर्युक्त तीनों आश्रमियों की सेवा करने के लिए ही होते हैं और ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थियों और संन्यासियों की चाल ढाल के विपरीत न हों, उनमें मोह किसी दूसरे काम के लिए नहीं। अतएव आर्यों के मकान ऐसे ही होने चाहियें जो और वासना का ज़हर डालने वाले न हों और गृहस्थ के प्रति घृणा, उपेक्षा तथा तिरस्कार उत्पन्न करनेवाले न हों। प्रत्युत आर्यों के घर ऐसे हों जो मोक्षमार्गियों को अपने निकट बुलाते हों और गृहस्थ को भी वनस्थ बनने में सहायता देते हों।

एक आर्य जब ब्रह्मचर्याश्रम से आकर गृहस्थ बनता है, तो ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थियों और संन्यासियों में एक प्रकार का बल प्राप्त हो जाता है। उनको विश्वास हो जाता है कि हमारी सेवा करने के लिए और हमें सहायता देने के लिए अब एक और मजबूत बाहुबल वाले दम्पति ने अपने घर में अग्नि की स्थापना की है। इसी अभिप्राय से आर्यों ने विवाह के बाद अपने कुटुम्ब से पृथक् होकर जुदा रहने में ही धर्म माना है। मनु भगवान् कहते हैं कि 'पृथग् विवर्धते धर्मस्तमाद्धर्म्या पृथक्क्रिया' अर्थात् अलग रहने से ही धर्म बढ़ता है, इसलिए अलग ही रहना चाहिये। यही बात गौतमसूत्र अध्याय २८ में इस प्रकार लिखी है कि 'पिता की मृत्यु के पश्चात् अथवा पिता के जीते जी जब माता के पुत्र जनने का समय व्यतीत हो जाय, तब तक पुत्र पिता की सम्पत्ति को बांट लें। इसी तरह शुक्रनीति में भी लिखा है कि—

सदारप्रौढ़पुत्रान्प्राक् श्रेयोऽर्थी विभजेत्पिता।
सदारा भ्रातरः प्रौढ़ाः विभजेयुः परस्परम् ॥

अर्थात् युवा और विवाहित पुत्र अथवा भाई कल्याण के लिए परस्पर गृहस्थी को बांट लें और जुदा हो जायं। इस पृथक्ता का केवल इतना ही कारण है कि प्रत्येक विवाहित पुरुष बहुकुटुम्ब के कलह, प्रमाद और आलस्य से हटकर अलग घर बनावे और अपने बाहुबल से मोक्षार्थियों की सेवा और सत्सङ्ग से खुद भी मोक्षमार्गी बन जाय। तात्पर्य यह कि गृहस्थों के घर मोक्ष-मार्ग के केन्द्र होने चाहियें, जिनमें देव, पितर, ब्रह्मचारी, संन्यासी, पापरोगी, श्वपच और पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, तृण-पल्लव सभी की पूजा हो और सभी को सहारा दिया जाय। ऐसे घर जिनमें निरन्तर मोक्षार्थियों की सेवा होती हो और

जहां निरन्तर मोक्ष प्राप्त करने का ही उद्योग होता हो वे ऐसे ही होने चाहिये जो स्वच्छ, सात्विक अभयदान देनेवाले और रम्य हों। उन मकानों से अभिमान, विलास और अपवित्रता की बू न आती हो, प्रत्युत शांति मिलती हो। यही कारण है कि आर्यों ने अपनी सभ्यता में बहुत ही सादे मकानों को स्थान दिया है और यही कारण है कि पुराने जमाने में आर्यों के मकान बहुत ही सादे होते थे। 'महाभारत–मीमांसा' पृष्ठ ३७५ में रायबहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य, एम्० ए० लिखते हैं कि 'हिन्दुस्तान में प्राचीन काल में प्रायः लकड़ी और मिट्टी के ही मकान थे। दुर्योधन ने पाण्डवों के रहने के लिए जो लाक्षागृह बनवाने की आज्ञा दी थी, उसमें लकड़ी मिट्टी की ही दीवारें बनाने को कहा गया था। इन दीवारों के भीतर राल, लाख आदि ज्वालाग्राही पदार्थ डाल दिये गये थे और ऊपर से मिट्टी लीप दी गई थी। जब पाण्डवों सरीखे राजपुरुषों के रहने के लिये ऐसे घर बनवाने की आज्ञा दी गई थी, तब यही बात ज्ञात होती है कि महाभारतकाल में बड़े लोगों के घर भी मिट्टी के ही होते थे। यह बात बिलकुल ही ठीक है। आर्यों के घर ऐसे ही होते थे। पर इसका मतलब यह नहीं है कि आर्य लोग ईंट बनाना या पत्थर काटकर जोड़ना नहीं जानते थे। वे ईंटों को पकाना जानते थे और ईंटों से हवनकुण्ड और हवन-मण्डप बनवाते भी थे, यहां तक की बड़े-बड़े लोहे के किले भी बनवाते थे। यह बात 'अग्न इष्टका' का वर्णन करते हुए यजुर्वेद में और आयसी पुर का वर्णन करते हुए ऋग्वेद में लिखी भी है। किन्तु जैसा कि हम अभी कह आये हैं आर्यों के रहनेवाले मकान मोक्षार्थियों के टिकने और मोक्षार्थ की चर्चा करने ही के लिये थे, इसलिये वे प्रमाद उत्पन्न करने वाले ढंग के नहीं बनाये थे। भव्य भवनों और साधारण आर्य घरों में क्या अन्तर है और दोनों मे क्या क्या हानि लाभ है, यही बतलाने का यत्न करते हैं।

सादे सीधे, मिट्टी लकड़ी और घास के छोटे छोटे मकान झाड़ने और लीपने पोतने से नित्य पवित्र हो जाते हैं, परन्तु बड़े ऊंचे और ईंट पत्थर के मकान इतनी जल्दी रोज साफ नहीं हो सकते। ईंट पत्थर के मकान गर्मी में अधिक गर्म और सर्दी में अधिक सर्द तथा वर्षा में अधिक गर्मी उत्पन्न करते हैं, पर मट्टी लकड़ी और छप्पर के मकान गर्मी में ठंडे, सर्दी में गर्म और वर्षा ऋतु में बड़े ही हवादार हो जाते हैं। वर्षाकाल में घास का छप्पर तो बड़ा ही आनन्ददायक होता है। सादे मकान बहुत ही थोड़े श्रम और खर्च से बन जाते

हैं, परन्तु ईंट पत्थर के भव्य भवनों में लाखों रुपया लग जाता है। आज इमारत के व्यर्थ खर्च के कारण नवीन स्कूलों और कालेजों का खुलना कठिन हो रहा है। नवीन स्कूल का नाम लेते ही बिल्डिंग का प्रश्न सामने आता है और हजारों की बात लाखों में बदल जाती है और सारी स्कीम दिमाग में ही पड़ी रह जाती है। परन्तु यदि सादे मकानों का अनुकरण किया जाय तो प्रत्येक तहसील में थोड़ी ही लागत से एक एक कालेज खुल सकता है। इसलिए भव्य भवनों से सादे मकान अधिक उपयोगी हैं। सादे मकानों की उपयोगिता उस समय बहुत ही अच्छी तरह समझ में आ जाती है, जब भूकम्प, अग्निकाण्ड अथवा नदियों के प्रवाह से गांवों का नाश होता है। ऐसी आपत्तियों में से भूकम्प के कारण तो छप्पर वाले मकान गिरते ही नहीं। रहा अग्निकाण्ड और जलप्रवाह, यद्यपि इनसे सादे मकान भी नष्ट होते हैं पर सादे घरों के नष्ट होने में भव्य भवनों की अपेक्षा बहुत ही कम हानि होती है। कम हानि के कारण छोटे मकानवाला दस ही बीस दिन में अपना नया मकान फिर बना लेता है परन्तु भव्य भवनवाले का तो फिर दूसरा भव्य भवन आजीवन बनवाया ही नहीं बनता। इसका मतलब यह हुआ कि सादे मकान सदैव कायम रहते हैं, पर भव्य भवनों की स्थिरता में सन्देह है। बड़े मकान वालों में स्वाभाविक ही अभिमान और प्रमाद होता है, पर साधारण मकान वाले बहुत ही सरल होते हैं। बड़े मकानों में रहते ही नौकर, फरनीचर, सवारी और अनेक प्रकार की पोशाकों और ठाटबाटों की आवश्यकता अकारण ही उत्पन्न हो जाती है, पर सादे मकानों में ये बातें उत्पन्न नहीं होतीं। भव्य भवनों और सादे मकानों में जो सबसे बड़ा अन्तर है, वह मोह और पैतृक सम्पत्ति का है। सादे मकान वाले जब चाहते हैं तब अपने मकान को छोड़ कर सुविधा के साथ दूसरी जगह नया मकान बना लेते हैं और बात की बात में ग्राम, जिला और प्रान्त को भी छोड़ देते हैं, जिसका नमूना हम नित्य खाने बदोशों—नट, कंजर और हबूड़ों में देखते हैं। पर ऊंची हवेली वाले हजार-हजार मुसीबतों के आने पर भी अपनी कोठी के मोह से न कहीं जा सकते हैं और न अमीरत की व्यर्थ बू को दिमाग से निकाल सकते हैं, प्रत्युत उसी पुरानी कोठी को सम्पत्ति मान कर उसी के पत्थरों में पैर रगड़ा करते हैं इसलिए भव्य भवन और बड़ी-बड़ी कोठियां मनुष्य की स्वाभाविक रहन-सहन के बिलकुल ही विपरीत हैं। इन्हीं ने मनुष्यों में सब से पहिले मिल्कियत के भावों को उत्पन्न किया है

और इन्हीं ने पैतृक सम्पत्ति के भावों की जड़ जमाई है। इसीलिए मोह, अभिमान और आलस्य उत्पन्न करने वाले ऐसे मकानों को आर्यों ने अपनी सभ्यता में स्थान नहीं दिया। आर्यों के मकानों का आदर्श वर्णन करते हुए अथर्ववेद में लिखा है कि—

तृणैरावृता पलदान्वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी।
मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती ॥ (अथर्व० ९।३।१७)
या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षा दशपक्षा शालां मानस्यं पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये ॥
(अथर्ववेद ९।३।२१)

अर्थात् तृण से छाई हुई और तोरण वन्दनवारों से सजी हुई हे शाला! तू सबको रात्रि के समय शान्ति देनेवाली है और लकड़ी के खम्भों पर हस्तिनी की भांति थोड़ी सी जमीन में स्थित है। जो शाला दो छप्पर वाली, चार छप्पर वाली, छः छप्पर वाली और आठ तथा दश छप्पर वाली बनाई जाती है, उस इज्जत बनाने वाली शाला (घर) में मैं जठराग्नि और गर्भ के समान निवास करता हूँ। वैदिक आर्यों के घरों का यही आदर्श है। इन्हीं घरों में रहकर वे ईश्वरपरायण मोक्षार्थी भक्तों को आश्रय देते थे और स्वयं उनके सत्सङ्ग से मोक्षसाधन में सदैव रत रहते थे। यही कारण है कि वैश्यवर्ण के द्वारा संशोधित पृथिवीखण्डों में जहां का जलवायु उत्तम होता था, पशुओं के लिए चरने योग्य बड़े बड़े चरागाह होते थे और जंगलों तथा ऊंचे पहाड़ों का दृश्य होता था, वहीं वे अपनी बस्ती बना देते थे। आर्यों के घर मिट्टी, लकड़ी और घास से और फूल फलों की वाटिकाओं से घिरी हुई ऊंची भूमि पर, नदी के निकट कूप तड़ागों से आप्यायित और उर्वरा भूमि पर बनाये जाते थे। मकान बनाते समय इस बात का ध्यान रहता था कि प्रत्येक घर दूर-दूर पर उतनी भूमि को छोड़ कर बनाया जावे, जिसमें एक कुटुम्ब के योग्य भोजन, वस्त्र और पशुचारण उत्पन्न हो सके। मकानों का यह ढंग बंगाल और मध्यप्रदेश में कहीं-कहीं अब तक जीवित है

अच्छे आर्यगृहों में दश छप्पर अर्थात् दश भिन्न-भिन्न कमरे होते थे। इनमें पांच अन्दर की ओर और पांच मकान की दीवार के बाहर की ओर। भीतर वालों में एक कमरा गृहपति का, दूसरा गृहपत्नी और छोटे बच्चों का, तीसरा अतिथि का, चौथा पाकशाला का जहां गार्हपत्याग्नि रहती है और

पांचवां बाहर से अध्ययनार्थ आये हुए ब्रह्मचारी का होता था। घर से बाहर वाले कमरों में एक नर पशुओं का, दूसरा मादा पशुओं का, तीसरा रोगी का, चौथा स्नान का, पांचवां कृषि के पदार्थों के संग्रह का होता था। बस, इसके अतिरिक्त मकान में बहुत से खण्ड बनाकर अनेकों कोठरियां बनवाना निरर्थक समझा जाता था। सच है, अधिक कमरों की आवश्यकता भी तो प्रतीत नहीं होती। आर्य सभ्यता की स्थिरता तो सादे, स्वच्छ और छोटे घरों में ही रह सकती है। इसलिये सादे ही घर होना चाहिये और ऐसे ही सौ दो सौ सादे घरों का ग्राम होना चाहिये, तथा प्रत्येक ग्राम के बाद बहुत सा जंगल छोड़कर फिर दूसरा ग्राम आबाद करना चाहिए। क्योंकि ग्राम्य जंगल में ही वनस्थों का निवास हो सकता है। मनुस्मृति में लिखा है कि प्रत्येक ग्राम के चारों ओर एक सौ धनुष भूमि छोड़ देना चाहिये और बड़े-बड़े नगरों के चारों ओर इससे तिगुनी चरभूमि को छोड़ना चाहिये*। आर्य ग्रामों में जहां तक हो सभी वर्ग और सभी पेशे के लोगों को बसाना चाहिये। वैद्य, राजकर्मचारी, वेदवेत्ता और यज्ञ कराने वाला तो अवश्य ही बसे। जिस प्रकार के ये ग्राम हों उसी प्रकार के सादे गृहों से बने हुए ही नगर अथवा पुर भी होना चाहिये। आर्यग्राम और आर्यपुर या नगर में बड़ा अन्तर नहीं है। जहां बड़े जंगल से घिर कर दो चार कोस तक दस बीस छोटे-छोटे ग्राम आ जाते हैं, वही पुर हो जाता है और ये छोटे-छोटे ग्राम ही उसके मुहल्ले हो जाते हैं। ऐसे पुर या नगर बहुधा बाजार या राजा के कारण बन जाते हैं, पर वे आजकल के नगरों की भांति नहीं होते। आजकल के नगरों के मकानों में तो नीचे, ऊपर, अगल बगल सर्वत्र पैखाना ही पैखाना भरे होते हैं। किन्तु आर्यसाहित्य में भंगी और पैखाना के लिये कोई शब्द नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि आर्यनगर जंगलों से और उसके मुहल्ले बाग बगीचों तथा चारागाहों से घिरे थे और लोग जंगलों में ही शौच के लिये जाते थे। यही आर्य-गृहों और आर्य-ग्रामों तथा आर्य-नगरों का दिग्दर्शन है।

आर्य-गृहस्थी

अर्थ की चौथी शाखा गृहस्थी है। भोजन, वस्त्र और गृह के तैयार करने में जिन पदार्थों की आवश्यकता होती है और जो पदार्थ स्वास्थ्य और ज्ञान-

---

*धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात् समन्ततः।
शम्यापातास्त्रयो वापि त्रिगुणो नगरस्य तु॥ (मनु० ८।२३७)

वृद्धि में सहायक होते हैं, उन सबकी गणना-गृहस्थी है । आर्य-गृहस्थी के स्थूल रूप से सात विभाग हैं। इन सातों के नाम बर्तन, पशु, रोशनी, औषधि, पुस्तक और शस्त्रास्त्र हैं। यहां क्रम से हम इन सबों का वर्णन करते हैं।

आर्य गृहस्थों में सबसे पहिली वस्तु बर्तन हैं। बर्तनों का उपयोग खाने पीने, पकाने और यज्ञों के कामों में होता है। खाने पीने के बर्तनों के लिए अथर्ववेद में लिखा है कि 'अलाबु पात्रं पात्रम्' अर्थात् तूंबे के बर्तन ही बर्तन हैं, अन्य नहीं। यही बात बर्तनों का वर्णन करते हुए मनु भगवान् ने भी लिखी है। वे कहते हैं कि 'अलाबु दारुपात्रं च मृण्मयं वैदलं तथा' अर्थात् तूंबे, लकड़ी, मिट्टी और बांस के ही बर्तन होना चाहिये। इन बर्तनों में खाने-पीने के पदार्थों को रखने से बिगड़ने का डर नहीं रहता और सब को एक समान आसानी से प्राप्त हो जाते हैं। इसी तरह काष्ठ, मिट्टी और पत्थर के पात्र यज्ञों में भी काम आते हैं, इसलिये ऐसे ही पात्र होने चाहियें जो सब को आसानी से मिल जांय। इस पर कुछ लोग कहते हैं कि ये पात्र तो संन्यासियों के हैं, गृहस्थों के नहीं। किन्तु हम देखते हैं कि आज हमारे देश में लाखों गृहस्थ हैं जिनके घरों में सिवा काठ के कठौते और कठैली के पत्थर के कूंडों और कूंडियों के, मिट्टी के हंडे और हंडियों, तश्तरी और सकोरों के और बांस, घास, पत्ते और मूंज के बर्तनों के एक भी फूल या पीतल का बर्तन नहीं है।

इसी तरह लाखों गृहस्थ ऐसे हैं जिनके घरों में पीतल की केवल एक ही थाली, एक ही बटुवा और एक ही लोटा है, शेष जितने बर्तन हैं सब लकड़ी मिट्टी पत्थर पत्ते और बांस ही के हैं। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि ये बर्तन केवल संन्यासियों के ही हैं। इनको संन्यासियों के बर्तन कहने का कारण इतना ही है कि संन्यासी इनमें से एक ही पदार्थ का एक ही बर्तन ले सकता है, सब पदार्थों के एक साथ अनेकों बर्तन नहीं। परन्तु गृहस्थ हरचीज के कई बर्तन रख सकता है, इसलिये संन्यासी और गृहस्थ के बर्तनों की तुलना नहीं हो सकती। हमारे देश में आज तक यह रिवाज है कि गृहस्थ के घर में कुम्हार मिट्टी के बर्तन, नट बांस के बर्तन और बारी पत्तों के बर्तन जितने आवश्यक होते हैं, उतने हमेशा दे जाता है और साल के अन्त में गृहस्थ की उपज का अमुक भाग ले जाता है, पर संन्यासी के साथ इस प्रकार का कोई बन्दोबस्त नहीं है। इसलिये उपर्युक्त बर्तनों को केवल संन्यासियों के बर्तन

नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत यह कहा जा सकता है कि जो बर्तन सबको एक समान सरलता से प्राप्त हो सकें और जो भोजन को सुरक्षित रख सकें, उन्हीं का आर्य सभ्यता में समावेश है। फूल, पीतल, एल्युमीनियम, जर्मन सिल्वर और चांदी आदि के बर्तनों का नहीं। क्योंकि ये सब को सरलता से एक समान प्राप्त नहीं हो सकते।

पशु भी आर्य गृहस्थी की प्रधान सामग्री हैं। इसलिये वेदों में पशुओं की प्राप्ति के लिये सैकड़ों प्रार्थनाओं का भी वर्णन है। क्योंकि आर्य सभ्यता में पशुओं से छः प्रकार का काम लिया जाता है। अर्थात् आर्यों के पशु भोजन, वस्त्र, खेती, सवारी, पहरा और सफाई का काम देते हैं। गाय, भैंस और भेड़ी से दूध घृतादि खाद्य पदार्थ प्राप्त होते हैं। भेड़ और बकरियों से वस्त्रों के लिए ऊन प्राप्त होती है। बैल, भैंसे, ऊंट, घोड़े, गधे और हाथी से सवारी, बार-बरदारी और खेतों के जोतने तथा सींचने का काम लिया जाता है। कुत्ता पहरा देता है और सुअर सफाई का काम करता है। इसीलिये आर्य गृहस्थी में पशुओं का बड़ा महत्व है।

आर्य गृहस्थी में रोशनी भी प्रधान वस्तु है। क्योंकि आर्य सभ्यता में दीपदान का बड़ा महत्त्व है। जहां अतिथि के षोडशोपचार गिनाये गये हैं, वहां अतिथिपूजा में दीपदान भी रक्खा गया है। इसके सिवा आर्यों का कोई भी धार्मिक कृत्य आरम्भ नहीं होता, जब तक दीपक न जला लिया जाय। इसलिये दिन के समय में भी दीपक जलाया जाता है। आर्यों का दीपक सदैव घी से ही जलाया जाता है। घृत की रोशनी के समान नेत्र को सुख देने वाली कोई दूसरी रोशनी नहीं है। इसीलिए आर्य गृहस्थों में अन्धकार को दूर करने वाला दीपक आवश्यक समझा गया है।

आर्य गृहस्थी में औषधियों का संग्रह भी आवश्यक है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि आर्यों को सदैव औषधियों का सेवन करना चाहिए। औषधियों के संग्रह का कारण इतना ही है कि न मालूम किस समय कैसी दुर्घटना हो जाय और औषधि की आवश्यकता पड़ जाय। क्योंकि गृहस्थ को इस प्रकार के प्रसंग आया ही करते हैं, जिनमें तुरन्त ही औषधों की आवश्यकता पड़ जाती है। इसलिये ऐसी औषधियां जो तुरन्त नहीं बन सकतीं और जिनकी आवश्यकता तुरन्त ही पड़ती है, उनका आर्य गृहस्थी में अवश्य संग्रह रहना चाहिये। आयुर्वेदशास्त्र का यही मतलब है कि कोई कभी बीमार

ही न हो। क्योंकि आयुर्वेद कहते ही उस विद्या को हैं, जो बीमारियों से बचने का ज्ञान देती है, तथापि दुर्दैव के कारण शरीर में चोट लगने से, थक जाने से और मलों के संचय हो जाने से जो अस्वस्थता उत्पन्न हो जाती है, उसका उपाय करना पड़ता है। चोट से किसी अंग के टूट फूट जाने से जो अस्वस्थता होती है, उसमें दर्दी की देखभाल, सेवाशुश्रूषा और मरहम पट्टी से ही आराम पहुंचता है, दवा दारू से नहीं। इसी तरह थकावट से जो अस्वस्थता होती है, उसमें भी आराम करने से ही लाभ होता है, औषधि से नहीं। किन्तु जो अस्वस्थता रोगों के कारण होती है, उसमें कुछ विलक्षण उपचारों की आवश्यकता होती है। क्योंकि माधव ने अपने निदान में लिखा है कि 'सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः' अर्थात् समस्त रोग मलों के संचय ही से उत्पन्न होते हैं, और वह संचित मल ही कभी कफ होकर, कभी अतिसार होकर, कभी फोड़ा फुन्सी बनकर और कभी ज्वर तथा वमन के रूप में परिणत होकर नाना प्रकारके रोगों के नामों से प्रकट होते हैं। इसलिये इन मलजन्य रोगों को चार उपायों से दूर किया जाता है। चरकाचार्य कहते हैं कि—

पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्।
चतुष्प्रकारा संशुद्धिर्वमनञ्च विरेचनम्॥

अर्थात् पाचक पदार्थों के खाने, उपवास, व्यायाम और लंघन के करने तथा वमन और विरेचन का प्रयोग करने से मलों की शुद्धि हो जाती है। इन उपचारों में फलोपवास, लंघन और वमन-विरेचनों को सभी जानते हैं, आर्य सभ्यता में मलों की शुद्धि का एक दूसरा ही उपाय बतलाया गया है, जिसे प्रायः लोग भूल गये हैं। वह तरीका प्राणायाम है। प्राणायाम का गुण वर्णन करते हुए मनु भगवान् कहते हैं कि—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

अर्थात् जिस प्रकार अग्नि में तपाने से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार प्राणायाम करने से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं। इसलिये यद्यपि नित्य प्राणायाम करनेवाले फलाहारी आर्यों के शरीरों में मलों का संचय नहीं होता, तथापि कभी-कभी अचानक ही सान्निपातिक रोगों का आक्रमण हो जाता है, जिससे मृत्यु की आशंका उत्पन्न हो जाती है। अतएव चतुर वैद्यों से अच्छी औषधियों को लेकर [illegible] घरों में रख छोड़ना चाहिये।

आर्य गृहस्थी में पुस्तकों का भी बड़ा महत्व है। इसलिये प्रत्येक आर्य के घर में वेद, वेदों के अङ्ग, उपाङ्ग, स्मृतियां, दर्शन, इतिहास और अन्य ऐसे ही ज्ञान-विज्ञान को बढ़ाने वाली पुस्तकें होनी चाहियें। पर व्यर्थ बकवास करने वाली और ज्ञान के स्थान में अज्ञान को फैलाने वाली तथा मनुष्यों की रुचियों को तामस बनाने वाली पुस्तकें न होनी चाहियें। क्योंकि उच्चकोटि के थोड़े से भी ग्रन्थ ज्ञानवृद्धि में जो सहायता करते हैं, उतनी सहायता अनिश्चित सिद्धांतों के प्रचार करने वाले हजारों ग्रन्थ भी नहीं कर सकते। ऋषियों के लिखे हुए सौ पचास ग्रन्थों के अवलोकन करने से ही जो ज्ञान में स्थिरता होती है, वह बड़े बड़े पुस्तकालयों की हजारों पुस्तकों के पढ़ने से भी नहीं होती। इसीलिए शास्त्र में अनिश्चित सिद्धांतों का संग्रह करना मना किया गया है। सांख्यशास्त्र १।२६में कपिलाचार्य कहते हैं कि 'अनियतत्वेपि नायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम्' अर्थात् बालकों और उन्मत्तों के समान अनिश्चित और युक्तिहीन बातों का संग्रह करना व्यर्थ है। इसलिये ग्रंथ वही संग्रह करने योग्य हैं, जो सनातन सिद्धांतों का अखण्ड रूप से प्रचार करते हों और प्राणियों को इस लोक और परलोक में सुख पहुँचाने की विधि और युक्ति की शिक्षा देते हों।

आर्य गृहस्थी में यन्त्रों का भी समावेश है। पर वैदिक यन्त्र वही है, जो किसी पशु या मनुष्य का कर्मक्षेत्र संकीर्ण नहीं करते। आर्य सभ्यता में ऐसे यन्त्रों का समावेश नहीं है, जो किसी पशु की सहायता के बिना केवल स्प्रिंग, स्टीम अथवा विद्युच्छक्ति के द्वारा थोड़े से मनुष्यों की सहायता से चलाये जायं और जिनके कारण हजारों पशुओं और मनुष्यों का कर्मक्षेत्र रुक जाय। वैदिक यन्त्रों का नमूना सूत कातने का चर्खा, कपड़ा बुनने का पुराना सांचा और बर्तन बनाने का कुम्हार का पुराना चक्र है। परन्तु अवैदिक यन्त्र आजकल के मोटर, ट्राम, रेल और मिलइंजिन हैं, जिनके कारण लाखों पशु और मनुष्य निकम्मे, निरुपयोगी और भाररूप हो गये हैं। ये यन्त्र हिंसाकारी हैं. इसलिए आर्य सभ्यतामें इनका समावेश नहीं है। आर्ययन्त्र तो वही हैं जो सनातन से पशुओं और मनुष्यों के द्वारा चलाये जाते हैं। इसलिये आर्य गृहस्थी में उनका संग्रह अवश्य होना चाहिये।

आर्य गृहस्थी में शस्त्रास्त्र भी आवश्यक हैं। प्राचीन कुल्हाड़ी, आरा, बसूला निहान, हथौड़ा, संडासी, सुई, कैंची, अस्तुरा, धनुषबाण, तलवार और भाला

आदि आर्यसभ्यता के शस्त्रास्त्र हैं। इनमें किसी प्रकार की कला का प्रयोग नहीं होता, इसीलिए ये आर्यसभ्यता में गिने जाते हैं। किन्तु जिनमें कला का योग होता है, वे अन्य प्राणियों का कर्मक्षेत्र रोकने वाले होते हैं, इसलिये वे आर्यसभ्यता में नहीं गिने जाते। परन्तु आर्यों के घरों में सादे शस्त्रास्त्रों का रहना बहुत ही आवश्यक है, अतएव सादे शस्त्रास्त्र ही आर्य गृहस्थी में स्थान पाने योग्य हैं। गृहस्थी से संबंध रखने वाले इन सात प्रकार के पदार्थों के अतिरिक्त यदि और कोई वस्तु गृहस्थी में उपयोगी और आवश्यक समझी जाय, तो उसका भी संग्रह करना चाहिये। पर इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि आर्य गृहस्थी की चीज वही हो सकती है, जिसके प्राप्त करने में न किसी प्राणी की कोई हानि हो, न मनुष्यसमाज में असमानता और ईर्षा उत्पन्न हो और न उसके प्राप्त करने में अपने को ही कष्ट करना पड़े, प्रत्युत जो पदार्थ आसानी से सब को एक समान प्राप्त हो सकें, वही आर्य गृहस्थी में सम्मिलित हो सकते हैं। क्योंकि मोहक पदार्थों का संग्रह करके मनुष्यों में प्रकारान्तर से चोरी की प्रवृत्ति उत्पन्न करना आर्यसभ्यता के विपरीत है। आर्यसभ्यता में चोरी के लिए गुंजायश नहीं है। यही कारण है कि आर्यों की भाषा संस्कृत में ताला और चाभी के लिए कोई शब्द नहीं है। इसलिए आर्यों की ऐसी ही गृहस्थी हो सकती है, जिसके लिए ताला चाभी का प्रबन्ध न करना पड़े।

यहां तक हमने आर्यों के अर्थ की चारों शाखाओंकी आलोचना करके देखा, तो ज्ञात हुआ कि जिस ढंग से वे इस सृष्टि से अर्थ का संग्रह करते हैं, उससे न तो किसी भी प्राणी को कोई कष्ट ही होता है और न आर्यों के लोकपरलोक सम्बन्धी उद्देश्यों की पूर्णता में कोई रुकावट ही होती है, प्रत्युत सृष्टि की सीधी (मनुष्य), आड़ी (पश्वादि) और उलटी (वृक्षादि) समस्त योनियों के देनलेन में सामञ्जस्य उत्पन्न हो जाता है और सबके लिये मोक्षमार्ग सरल हो जाता है। क्योंकि आर्यलोग अपने अर्थ के चारों विभाग प्रायः पशुओं और वृक्षों से ही लेते हैं और उनकी आयु तथा भोगों का सदैव ध्यान रखते हैं। वे जानते हैं कि जिस प्रकार मनुष्यों को पशुओं और वृक्षों की आवश्यकता होती है, उसी तरह पशुओं को वृक्षों और जलों की आवश्यकता होती है। इसीलिये वे सदैव कृषि और जंगलों के द्वारा पशुओं के लिए अन्न और घास की तथा यज्ञों के द्वारा वनस्पतियों के लिए जलों का प्रबन्ध करते हैं। वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि मनुष्य का जीवन केवल अकेली एक गाय

के दूध से ही पार हो सकता है और गाय केवल जंगलों की घास पर ही बसर कर सकती है। इसलिये आर्यों ने अपनी सभ्यता की परिभाषा में मनुष्यों को प्रजा, पशुओं को प्रजापति और वृक्षों को पशुपति कहा है। इसका यही मतलब है कि प्रजा को पशु पालते हैं और पशुओं को वनस्पतियां पालती है। वेद में सैकड़ों जगह पर मनुष्य को 'प्रजया सुवीराः' कहा गया है। इसी तरह शतपथ ब्राह्मण में पशुओं को प्रजापति कहा गया है। वहां पूछा गया कि 'कतमः प्रजापतिरिति' अर्थात् प्रजापति कौन है? तो उत्तर दिया गया है कि 'पशुरिति' अर्थात् पशु ही प्रजापति है। जिस प्रकार पशुओं को प्रजापति कहा गया है, उसी तरह वृक्षों को पशुपति कहा है। शतपथ ब्राह्मण ३।३।१२ में लिखा है कि 'ओषधयो वै पशुपतिः, तस्मात् यदा पशव ओषधीः लभन्ते अथ पतीयंति' अर्थात् औषधि ही पशुपति है, अतः जब पशु औषधियां खाते हैं तभी स्वामी के कार्यक्षम होते हैं। इसी तरह यजुर्वेद १६।१७ में भी 'वृक्षेभ्यः हरिकेशेभ्यो पशूनां पतये नमः' लिखकर वृक्षों को हरितकेशवाले पशुपति कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्रजा (मनुष्य) का पालन पशु करते हैं और पशुओं का पालन वृक्ष करते हैं उसी तरह लौटकर मनुष्य भी पशुओं से घी लेकर और वृक्षों से काष्ठ लेकर यज्ञ करता है और यज्ञ से पानी बरसाकर वृक्षों का भी पालन करता है जिससे वृक्ष, पशु और मनुष्य आदि सभी प्राणी पूर्ण आयु जीकर और अपने अपने कर्मफलों को भोगकर मोक्षमार्ग के पथिक बन जाते हैं। यही आर्यों के अर्थशास्त्र का मूल है और यही आर्यों के अर्थ की प्रधानता का सारांश है।

काम की प्रधानता

आर्यसभ्यता के प्रधान चार स्तम्भों में काम का बहुत ही बड़ा महत्व है। जिस प्रकार मोक्ष का सहायक अर्थ है उसी तरह अर्थ का सहायक काम है। यदि काम अर्थ की सहायता न करे तो अभी हम जिस अर्थ की प्रधानता का वर्णन कर आए हैं और आर्य-भोजन, आर्यवस्त्र, आर्यगृह और आर्यगृहस्थी का जो आदर्श दिखला आये हैं उसकी स्थिरता एक दिन भी नहीं रह सकती अर्थात् यदि मनुष्य काम को मर्यादित न करे तो वह कभी अर्थ को मर्यादित कर ही नहीं सकता और न बिना अर्थमर्यादा के कभी मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसीलिए आर्यों ने काम के विषय में बहुत गम्भीरता से विचार किया है। संसार में आज तक आर्यों के अतिरिक्त किसी भी सभ्यजाति ने इस अर्थशुद्धि

के मूलाधार काम पर इतना विचार नहीं किया। सब ने अर्थ और काम को एक में मिला दिया है। परन्तु आर्यों ने जिस प्रकार शरीर और मन की पृथक्ता को समझ लिया है, उसी तरह शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले अर्थ को और मन से सम्बन्ध रखने वाले काम को भी एक दूसरे से पृथक् कर दिया है और जिस प्रकार शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी को अर्थ के अन्तर्गत कर दिया है, उसी तरह मन से सम्बन्ध रखने वाले ठाठ-बाट, शोभा-शृङ्गार और स्त्री-पुत्रादि को काम के अन्तर्गत कर दिया है। क्योंकि ये सभी पदार्थ केवल मनस्तुष्टि के ही लिए हैं। यदि अपना मन काबू में हो तो इनमें से एक भी पदार्थ की आवश्यकता नहीं है। किन्तु इन सब से मन का एकदम हटा लेना बहुत ही कठिन है। ठाट बाट और शोभा-शृङ्गार से चाहे मनुष्य अपना मन हटा भी ले, पर स्त्री से पुरुष को और पुरुष से स्त्री को मन हटाना बड़ा ही दुस्तर है। सच पूछो तो स्त्री पुरुष के स्वाभाविक बंधन को ही काम कहा गया है, बनाव-चुनाव और शोभा-शृङ्गार तो उनके बन्धन के साधनमात्र हैं। यही कारण है कि मानसशास्त्र का प्रसिद्ध ज्ञाता शार्ङ्गधर काम का लक्षण करता हुआ लिखता है कि—

स्त्रीषु जाता मनुष्याणां स्त्रीणां च पुरुषेषु वा।
परस्परकृतः स्नेहः काम इत्यभिधीयते॥ (शार्ङ्गधर १।६)

अर्थात् स्त्रियों में पुरुष का और पुरुषों में स्त्रियों का जो परस्पर स्वाभाविक स्नेह है उसी को काम कहते हैं। स्त्री और पुरुष के इस पारस्परिक स्नेह और स्वाभाविक आकर्षण के दो कारण हैं। पहिला तो यह है कि मनुष्य अनन्त जन्म जन्मान्तरों से अनेक योनियों में स्त्री और पुरुष शक्ति के सम्मेलन के ही द्वारा पैदा होता हुआ और इसी सम्मेलन के द्वारा अन्य जीवों को पैदा करता हुआ चला आ रहा है, दूसरा कारण यह है कि वीर्य में पड़े हुए जीवों के भोग जीवों को बाहर निकलने और नवीन शरीर धारण करने की प्रेरणा करते हैं। इन्हीं दोनों कारणों से स्त्री पुरुषों में एक विलक्षण आकर्षण उत्पन्न होता है और मनुष्य रति करने के लिए विवश होता है। यह प्राणीमात्र का अनादि अभ्यास है। किन्तु मनुष्य के लिए यह अभ्यास अच्छा भी है और बुरा भी। इस अभ्यास में जहां तक आर्यसभ्यता का सम्बन्ध है वहां तक तो अच्छा है, पर जहां से इसमें अनार्यता का संचार होता है वहां से इस का रूप भयंकर हो

जाता है। मन पर काबू रखकर और आवश्यक सन्तान को उत्पन्न करके उस सन्तान को मोक्षमार्गी बनाना आर्यसभ्यता है और शोभा-शृंगार, ठाट बाट के द्वारा कामुकता को बढ़ा कर और अपरिमित संतान को उत्पन्न करके संसार में अर्थ संकट उत्पन्न कर देना अनार्यसभ्यता है। आर्यसभ्यता मोक्षाभिमुखी है, इसलिये उसका अर्थ (भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी) सादा है—उसमें शोभा-शृंगार और ठाट बाट के लिए गुंजायश नहीं है। किन्तु अनार्यसभ्यता शोभा शृंगार और ठाट बाट से सम्बन्ध रखती है अतः वह एक तो संसार में अर्थ-संकट उत्पन्न कर देती है, दूसरे शोभा-शृंगार से कामुकता बढ़ा देती है और अमर्यादित सन्तान उत्पन्न करके अर्थ संकट को और भी अधिक भयंकर रूप दे देती है जिससे दुष्काल, महामारी और युद्धों का प्रचंड तूफान उमड़ पड़ता है और सारा संसार अशांत हो जाता है। इसीलिए आर्यों ने अपने अर्थ में शोभा-शृंगार और ठाट-बाट के लिए बिलकुल ही स्थान नहीं दिया, प्रत्युत इसकी गणना काम में की है। क्योंकि शृंगार का स्थायी स्वभाव रति है। 'रस गंगाधर' नामी ग्रन्थ में पण्डितराज जगन्नाथ लिखते हैं कि—

शृङ्गारः करुणः शांतो रौद्रो वीरोऽद्‌भुतस्तथा।
हास्यो भयानकश्चैव बीभत्सश्चेति ते नव॥
रतिः शोकश्च निर्वेद क्रोधोत्साहौच विस्मयः।
हासो भयं जुगुप्सा च स्थायीभावाः क्रमादमी॥

अर्थात् शृंगार, करुण, शांत, रौद्र, वीर, अद्‌भुत, हास्य, भयानक और बीभत्स ये नौ रस हैं। इनमें शृंगार का रति, करुण का शोक, शांत का निर्वेद, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, अद्‌भुत का विस्मय, हास्य का हंसी, भयानक का भय और बीभत्स का घृणा स्थायीभाव हैं। यहां शृंगार का स्थायीभाव रति माना गया है। बनाव-चुनाव और शोभा-शृंगार का परिणाम रति ही है। साहित्यदर्पण में लिखा है कि—

राज्ये सारं वसुधा वसुधायामपि पुरं पुरे सौधम्।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनाङ्गसर्वस्वम्॥

अर्थात् राज्य का सार पृथिवी है, पृथिवी का सार नगर है, नगर का सार महल है, महल का सार पलंग है और पलंग का सर्वस्व स्त्री के अङ्ग हैं। यहां स्पष्ट कर दिया गया है कि शृंगारप्रिय की मनोभावना किस प्रकार रति में

समाप्त होती है। इसी प्रकार काम-चेष्टा के उत्पन्न करने वाले शृंगारों का वर्णन करते हुए चरकाचार्य कहते हैं कि—

अभ्यङ्गोत्सादनस्नानगन्धमाल्यविभूषणैः।
गृहशय्यासनसुखैर्वासोभिरहतैः प्रियैः॥
विहङ्गानां रुतैरिष्टैः स्त्रीणाञ्चाभरणस्वनैः।
संवाहनैर्वरस्त्रीणामिष्टानाञ्च वृषायते॥

अर्थात् तैल, उबटन, स्नान, इत्र, माला, आभूषण, अट्टालिका, रंगमहल, शय्या, पोशाक, बाग, पक्षियों का कलरव, स्त्रियों के आभूषणों की झनकार और स्त्रियों से हाथ पैर मलवाना आदि समस्त कामचेष्टा के उत्पन्न करनेवाले सामान हैं, अतः इस प्रकार के शृङ्गारमय पदार्थों से निर्वीर्य भी कामातुर हो जाता है। इस वर्णन से स्पष्ट हो गया कि शृंगार मनुष्य को कामी बनाकर रतिप्रिय बना देता है। पञ्चतन्त्र में विष्णु शर्मा ने ठीक ही कहा है कि—

निःस्पृहो नाधिकारी स्यान्नाकामी मण्डनप्रियः।
नाविदग्धः प्रियं ब्रूयात्स्फुटवक्ता न वञ्चकः॥

अर्थात् निःस्पृह मनुष्य अधिकारी नहीं होता, बनाव-चुनाव और शोभा-शृङ्गारप्रिय मनुष्य अकामी नहीं होता, मूर्ख कभी प्रिय बोलने वाला नहीं होता और स्पष्ट बोलने वाला कभी ठग नहीं होता। सत्य है, शृंगारप्रिय छैल गुंडा कभी अकामी हो ही नहीं सकता। उसे निश्चय ही कामी होना चाहिये। वह बनाव चुनाव करता ही इसलिए है कि उसे रति प्राप्त हो। यह बात हम संसार के अनुभव से भी कह सकते हैं कि शृंगार रति के ही लिए किया जाता है। क्योंकि हम देखते हैं कि रति के पश्चात् तो शृंगारभंग हो जाता है। भंग शृंगार खण्डिताओं पर कवियों ने न जाने कितने व्यङ्ग कहे हैं जो शृंगाररस के ज्ञाताओं से छिपे नहीं हैं। कहने का मतलब यह कि ठाट-बाट, शोभा शृंगार और विलास तथा आमोद प्रमोद से कामुकता बढ़ती है और उस कामुकता से शृंगार की ओर भी उन्नति होती है और दूने परिणाम से कामुकता का विस्तार होता है। फल यह होता है कि अमर्यादित सन्तति से संसार भर जाता है और भूख, दुष्काल आदि से संसार के प्राणी अकाल में मरने लगते हैं।

सन्तति-विस्तार का भयङ्कर चित्र खींचते हुए प्रो० माल्थस आदि प्रजनन-शास्त्री कहते हैं कि संसार में जनसंख्या बढ़ रही है और उस वृद्धि

को प्रकृति सदैव दुष्काल, महामारी और युद्धों के द्वारा न्यून किया करती है। इसलिए यदि दुष्काल, महामारी और युद्धों के सन्ताप से बचना है और यदि बहु सन्तानजन्य दारिद्र्य से बचना है तो सन्तान-निरोध का उपाय करना चाहिये, अन्यथा एक दिन ऐसा आने वाला है कि जनसंख्या वृद्धि के कारण पृथिवी पर तिल रखने की भी जगह न रहेगी। इस आशंका को ध्यान में रखकर पाश्चात्य विद्वानों ने सन्तान-निरोध के तीन तरीके निश्चित किये हैं। पहिले तरीके में उन्होंने कहा है कि कुछ ऐसे यन्त्रों का उपयोग किया जाय जिससे गर्भ ही न ठहरे, दूसरा तरीका यह बतलाया है कि ऐसी औषधियां खा ली जायं कि सन्तान का उत्पन्न होना ही बन्द हो जाय और तीसरा तरीका यह बतलाया है कि इन्द्रियसंयम के द्वारा अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण किया जाय जिससे सन्तान की वृद्धि रुक जाय। इन तीनों तरीकों का अब तक जो अनुभव हुआ है वह बड़ा ही दुःखद है। यन्त्रों और औषधियों के उपयोग से अनेकों प्रकार की व्याधियां उत्पन्न हुई हैं जिनके कारण लाखों स्त्री और पुरुष दुःख पा रहे हैं। मि० थर्स्टन ने इन यन्त्रों और औषधियों के दुष्परिणामों का बड़ा ही लोमहर्षण वर्णन किया है। अब रहा इन्द्रियनिग्रह, वह इन दोनों से भी अधिक भयंकर है। इन्द्रियनिग्रह करना किसी ऐसे वैसे साधारण मनुष्य का काम नहीं है। उसे तो बहुत ही योग्य पुरुष कर सकते हैं। जो योग्य हैं उन्हीं से योग्य सन्तान भी उत्पन्न हो सकती है। परन्तु यदि योग्य मनुष्य संयम करके योग्य सन्तान का उत्पन्न करना बन्द कर दें और अयोग्य अर्थात् नालायक मनुष्य सन्तान का उत्पन्न करना जारी रक्खें तो परिणाम यह होगा कि भविष्य में समस्त पृथिवी नालायक प्रजा से ही भर जायगी और फिर दुष्काल, महामारी, युद्ध और दुःख दारिद्र्य से मनुष्यों का संहार होने लगेगा। इसलिए योग्यों को तो कभी सन्तति निरोध के फेर में पड़ना ही न चाहिये।

अब रहे अयोग्य, वे तो संयम कर नहीं सकते, इसलिए पश्चिमीय विद्वानों के ढूंढे हुए तीनों तरीके उपयोगी सिद्ध नहीं हुए। परन्तु आर्यसभ्यता शोभा-श्रृङ्गार, ठाट बाट और आमोद प्रमोद को हटाकर सादे और यत्किंचित् अर्थ के द्वारा बिना किसी प्रकार का अर्थसंकट उत्पन्न किये, अपने ब्रह्मचर्य-व्रत से समस्त मनुष्यों को मोक्षाभिमुखी बनाकर सन्तति विस्तारजन्य अर्थसंकट की उलझन को बहुत ही अच्छी तरह सुलझाती है। हमने आर्यों के अर्थ का

विस्तृत वर्णन करके दिखला दिया है कि आर्यसभ्यता में बनाव-चुनाव, शोभा शृङ्गार और ठाट बाट के लिए बिलकुल ही स्थान नहीं है। आर्यों का अर्थ बिलकुल ही सादा है, इसलिए उसमें कामुकताजन्य अर्थसंकट के उपस्थित होने के लिए कुछ भी आशंका नहीं है। रही सन्ततिविस्तार की बात, उसको आर्यों ने अपनी एक विशेष शक्ति के द्वारा बहुत ही अच्छी तरह हल किया था। इन्होंने शृङ्गारशून्य किन्तु सादे अर्थ के द्वारा ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करके ऊर्ध्वरेतत्व और अमोघवीर्यत्व की शक्ति से वह सामर्थ्य प्राप्त कर लिया था, जिससे वे जब चाहते थे तब आवश्यक सन्तान उत्पन्न कर लेते थे और जब चाहते थे तब सन्तान का उत्पन्न करना एकदम बन्द कर देते थे। ऐसी मनोनिग्रह शक्ति का सम्पादन आज तक संसार में कोई भी सभ्य जाति नहीं कर सकी। यही कारण है कि सन्ततिनिरोध के जटिल प्रश्न को भी आज तक कोई जाति हल नहीं कर सकी। इसलिए हम यहां आर्यों की सन्ततिनिरोध की शक्ति और नीति का सारांश देकर बतलाते हैं कि किस प्रकार उन्होंने इस दुरूह समस्या को हल किया है।

आर्यों की कामसम्बन्धी नीति

संसार का अनुभव बतलाता है कि व्यक्ति समाज और राष्ट्र को समय-समय पर सन्तति अर्थात् जनसंख्या की अनावश्यकता, आवश्यकता और अत्यावश्यकता होती ही रहती है। जिस समय राष्ट्र और समाज में शान्ति रहती है उस समय मोक्षमार्गियों के अतिरिक्त शेष समस्त समाज को मृत्यु के परिमाण से सन्तान की आवश्यकता रहती है। परन्तु जिस समय युद्ध जारी हो जाता है अथवा समाप्त हो जाता है उस समय सन्तान की आवश्यकता बेहद बढ़ जाती है। इसी तरह सुख-शान्ति के कारण सन्तान बेहद बढ़ जाती है उस समय सन्तान के कम करने की भी आवश्यकता हो जाती है। ऐसी दशा में इच्छानुसार अधिक सन्तति उत्पन्न करने या कम सन्तति करने या बिलकुल ही सन्तति उत्पन्न करना बन्द कर देने की शक्ति उसी में हो सकती है जिसकी सामाजिक शिक्षा की दीवार अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत की नींव पर उठाई गई हो। आर्यों ने अपनी सभ्यता की इमारत अखण्ड ब्रह्मचर्य पर ही खड़ी की है, इसीलिए आर्यसभ्यता के अनुसार आर्यों को ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के पचहत्तर वर्ष अखण्ड ब्रह्मचर्य की दशा में ही बिताने के

लिए जोर दिया गया है और गृहस्थ को भी अधिक रति से बचने के लिए यज्ञोपवीत-संस्कार से ही सन्ध्योपासन, प्राणायाम, शृङ्गारवर्जन, सादगी, तपस्वी-जीवन और मोक्षमार्ग का ध्येय बतलाकर अमोघवीर्यत्व सम्पादन करने का उपदेश किया गया है। क्योंकि सन्ततिनिरोध की शक्ति अमोघवीर्य पुरुष में ही हो सकती है और वही आवश्यकतानुसार एक, दो अथवा दस सन्तान उत्पन्न कर सकता है और वही चाहे तो सन्तान का उत्पन्न करना एकदम बन्द भी कर सकता है। आर्य-सभ्यता के इतिहास में इस प्रकार के प्रजोत्पत्ति-सम्बन्धी तीन सिद्धान्त और तीनों के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं, अतः हम यहां तीनों का सारांश रूप से वर्णन करते हैं।

पहिला प्रमाण उन व्यक्तियों का मिलता है जो क्षीणदोष उत्पन्न होते हैं और जन्म से ही मोक्षमार्ग में लग जाते हैं। वे कभी प्रजा की इच्छा नहीं करते। बृहदारण्यक-उपनिषद् में लिखा है कि 'पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामः' अर्थात् पूर्व समय में विद्वान् सन्तान की कामना नहीं करते थे। वे कहते थे कि प्रजा को क्या करेंगे। ऐसे आजीवन ब्रह्मचारी इस देश में हजारों लाखों हो चुके हैं। मनुस्मृति में लिखा है कि—

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्॥

अर्थात हजारों ब्राह्मण ब्रह्मचारी विना सन्तति के कुमार अवस्था से ही मोक्षगामी हो गये। इतना ही नहीं कि पूर्वकाल में पुरुष ही इस प्रकार के होते थे, प्रत्युत उस समय की कन्याएं भी कुमारी रहकर और आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर मोक्षभागिनी होती थी। महाभारत में भी लिखा है कि लोमश-ऋषि युधिष्ठिर से कहते हैं कि—

अत्रैव ब्राह्मणी सिद्धा कौमारब्रह्मचारिणी।
योगयुक्ता दिवं याता तपःसिद्धा तपस्विनी॥
बभूव श्रीमती राजन् शांडिल्यस्य महात्मनः।
सुता धृतवती साध्वी नियता ब्रह्मचारिणी॥
सा तु तप्त्वा तपो घोरं दुश्चरं स्त्रीजनेन च।
गता स्वर्गं महाभाग देवब्राह्मणपूजिता॥ (महा० शल्य० अ० ५४)

अर्थात् इसी स्थान पर शांडिल्य ऋषि की कन्या धृतवती ने आजन्म

ब्रह्मचारिणी रहकर और विद्वानों से सत्कृत होकर मोक्षलाभ किया था। वहीं पर अध्याय ४९ में फिर लिखा है कि—

भारद्वाजस्य दुहिता रूपेणाप्रतिमा भुवि।
श्रुतावती नाम विभो कुमारी ब्रह्मचारिणी॥
साहं तस्मिन् कुले जाता भर्तर्यसति मद्विधे।
विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम्॥

अर्थात् भारद्वाज की पुत्री श्रुतावती ने भी आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत पालन किया था। इतना ही नहीं प्रत्युत याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी ने विवाह करके भी कभी सन्तान उत्पन्न नहीं किया। इन ऐतिहासिक प्रमाणों से पाया जाता है कि पूर्वकाल में आर्य लोग बिना सन्तति के आजीवन ब्रह्मचारी रहकर मोक्ष प्राप्त करते थे। जो लोग कहते हैं कि प्राचीन आर्य सन्तान के पीछे दीवाने फिरते थे, वे गलती पर हैं। मोक्षार्थी आर्य कभी सन्तान की इच्छा नहीं करते थे। क्योंकि अथर्ववेद में लिखा है कि 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत' अर्थात् तपस्वी विद्वान् आजीवन ब्रह्मचर्य-बल से ही मृत्यु को मारकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। सच है, जो मनुष्य दूसरों को उत्पन्न नहीं करता वह निश्चय ही दूसरों के द्वारा उत्पन्न नहीं होता। उत्पन्न न होने का सबसे सुगम तरीका यह है कि मनुष्य आजीन ब्रह्मचारी रहे। परन्तु यह महाव्रत सब के मान का नहीं है। सब मनुष्य तो सन्तान की इच्छा ही करते हैं। इसीलिए दूसरे प्रकार के भी प्रमाण मिलते हैं। इन प्रमाणों के अनुसार सन्तान की इच्छा करना अच्छा भी समझा गया है। क्योंकि इसमें दो लाभ हैं। एक तो सन्तान से गृहस्थाश्रम कायम रहता है जिसके आश्रय में सारा मनुष्य समाज जीविका प्राप्त करता है और दूसरा वीर्य में पड़े हुए जीव बाहर आकर मोक्षप्राप्ति की साधना करते हैं। यदि सन्तान का जन्म ही न हो तो वे प्राणी जो अन्य योनियों से घूमकर अब मनुष्य शरीर के द्वारा मोक्ष में जानेवाले हैं, सब बीच ही में फंसे रह जायं। इसलिए अत्यन्त आवश्यक है कि योग्य पुरुष एक दो सन्तान को अवश्य उत्पन्न करके और शिक्षा-दीक्षा से योग्य बनाकर समाज को बल पहुँचावे और उन्हें मोक्षमार्गी बनावे। यह बात आर्यसभ्यता में बड़े महत्व की है और आर्यमाज को पुष्ट करने वाली है। इसीलिए आपत्ति-रहित समाज के समय आय को एक सन्तान उत्पन्न करने के लिए बल दिया गया है। मनुस्मृति में लिखा है कि—

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः। (मनु० ९।१०६)
स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः। (मनु० ९।१०७)

अर्थात् प्रथम पुत्र के उत्पन्न होते ही मनुष्य पुत्री हो जाता है अतः ज्येष्ठ पुत्र ही धर्मज है और सब कामज हैं। इस प्रमाण से पाया जाता है कि वैदिक आर्यसभ्यता के अनुसार एक ही सन्तान उत्पन्न करना चाहिये, अधिक नहीं। कई सन्तान उत्पन्न करने से कामुकता का संस्कार हो जाता है और यह दोष समाज और मोक्ष दोनों का बाधक हो जाता है। वेद स्वयं आज्ञा देते हैं कि बहुत सी सन्तान उत्पन्न न करना चाहिये। ऋग्वेद १।१६४।३२ में लिखा है कि 'बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश' अर्थात् बहुत सन्तान वालों को बहुत दुःख उठाना पड़ता है। इसलिए ऋग्वेद ३।१।६ में आज्ञा देते हैं कि 'सना अत्र युवतयः सयोनीरेकं गर्भं दधिरे सप्त वाणीः' अर्थात् सप्तपदी (विवाह) की हुई युवति स्त्रियां एक ही गर्भ धारण करें। इन प्रमाणों से सूचित होता है कि सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आर्यों को एक ही सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा है, अधिक की नहीं। कदाचित् एक भी पुत्र उत्पन्न न हो तो कोई चिंता करने की बात नहीं। पुत्र के अभाव की चिंता से कुछ लोग दूसरे का पुत्र गोद लेते हैं पर वह वेदानुकूल नहीं है। क्योंकि वेद में दत्तक पुत्र गोद लेने का निषेध किया गया है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।
अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभीषाडेतु नव्यः। ऋ० ७।४।८

अर्थात् जो दूसरे के पेट से उत्पन्न हुआ है उसको कभी अपना पुत्र नहीं समझना चाहिये। अन्योदर्य पुत्र का मन सदैव वहीं जायगा जहां से वह आया है, इसलिये अपने ही पुत्र को पुत्र समझना चाहिये। अपना भी एक ही पुत्र पुत्र है शेष कामज हैं अतः यह एक पुत्र का सिद्धांत दूसरी श्रेणी का ऐतिहासिक प्रमाण है। इस प्रमाण के अनुसार अपना भी एक ही पुत्र उत्तम है, अनेक नहीं। किन्तु कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर कई सन्तानों की भी आवश्यकता होती है अतः तीसरी श्रेणी के भी प्रमाण मिलते हैं। जिसने राष्ट्रों के इतिहास पढ़े हैं वह जानता है कि कभी कभी राष्ट्र को बहुत सी सन्तानों की भी आवश्यकता हो जाती है। युद्धों के समय में अथवा युद्ध समाप्त हो जाने पर अनेक युवा पुरुषों के मारे जाने के कारण कभी-कभी राष्ट्र पुरुषों से

शून्य हो जाता है। महाभारत के समय अथवा गत योरोपीय महायुद्ध के समय अनेक राष्ट्रों को इस प्रकार की स्थिति का सामना करना पड़ा है और एक-एक पुरुष ने कई-कई स्त्रियों के साथ विवाह वा नियोग करके भी अनेक सन्तानों को उत्पन्न किया है। ऐसी ही आपत्ति के समय के लिए वेद में 'दशास्यां पुत्रानाधेहि' अर्थात् दश पुत्रों के उत्पन्न करने की प्रार्थना की गई है। इस प्रकार से आर्य सभ्यता में प्रजोत्पत्ति के तीन सिद्धांत स्थिर किये गये हैं। इन तीनों में पहिला सिद्धांत यह है कि विशेष-विशेष व्यक्ति आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत पालन करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। दूसरा सिद्धांत यह है कि सामाजिक सुविधा उत्पन्न करने और जीवों को मनुष्य शरीर में लाकर मोक्षाभिमुखी बनाने के लिए सबको एक-एक सन्तान उत्पन्न करना चाहिये और तीसरा सिद्धांत यह है कि राष्ट्रीय आवश्यकताओं के समय एक से अधिक अर्थात् अनेक सन्तान उत्पन्न करना चाहिये। इन तीनों सिद्धांतों के अन्दर आर्यों की अमोघवीर्यत्व की शक्ति ही काम कर रही है। वही शक्ति इस प्रकार से मनमाने समय में सन्तान उत्पन्न कर सकती है और वही शक्ति मैथुन कृत्य से सर्वदा पृथक् रख सकती है। यह अमोघवीर्यत्व की शक्ति आर्यों की खास उपज है। इस शक्ति के चमत्कारों का इतिहास आर्यों की सभ्यता के इतिहास में विस्तार से वर्णित है। इस शक्ति के उत्पन्न होने पर कामवासना अपने काबू में हो जाती है, अतः अमोघवीर्य पुरुष जब चाहता है तब सन्तान उत्पन्न करता है और जब चाहता है तब सन्तान उत्पन्न नहीं करता। वेदव्यास ने जब चाहा तब धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर को उत्पन्न कर दिया और जब चाहा तब इस कृत्य से हमेशा के लिए पृथक् हो गये। द्रौपदी और पाण्डव जब चाहते थे तब पति पत्नी का भाव रखते थे और जब चाहते थे तब माता पुत्र और पिता पुत्री का सा भाव कर लेते थे। यह भाव अमोघवीर्यत्व की ही शक्ति से उत्पन्न हुआ था। इसलिए जब तक अमोघवीर्यत्व उत्पन्न न किया जाय तब तक माल्थस थियरी का सामञ्जस्य नहीं हो सकता। अमोघवीर्यत्व प्राप्त करने के लिए शृङ्गारवर्जित, सादा, तपस्वी और मोक्षाभिमुखी जीवन बनाना पड़ता है। परंतु योरोप के विद्वान् शृङ्गारमण्डित अवस्था में ही केवल यंत्रों के सहारे सर्वसाधारण से सन्ततिनिरोध कराना चाहते हैं, इसलिये यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि वे कभी त्रिकाल में भी सुखपूर्वक सन्ततिनिरोध नहीं कर सकते। क्योंकि यंत्रों और औषधियों

के प्रयोग से प्रयोगकर्ताओं का रोगी हो जाना अनिवार्य है। इसलिये न यन्त्रों का उपयोग हो सकता है और न सन्ततिनिरोध हो सकता है।

यदि यन्त्रों और औषधियों के द्वारा सन्ततिनिरोध को मान भी लें तो भी यह उतना ही बड़ा पाप है जितना गर्भपात से होता है। क्योंकि वीर्य भी छोटा सा गर्भ ही है। सन्तति पहिले बीज (वीर्य) ही में बढ़ती है और फिर वीर्य से गर्भ में बढ़ती है तथा गर्भ से पृथिवी पर आकर और अधिक बढ़ती है। ये तीनों स्थान—वीर्य, गर्भ और पृथिवी—प्राणी के क्रम क्रम बढ़ने के ही लिये हैं। ऐसी दशा में यदि पृथिवी पर उत्पन्न हुए मनुष्य का मारना पाप है और यदि गर्भ में ठहरे हुए मनुष्य का मारना पाप है तो वीर्य में ठहरे मनुष्य के मारने में भी पाप होना चाहिये। प्राणी की वृद्धि में ही सहायता करना हमारा कर्तव्य है; वृद्धि रोकने में नहीं। परन्तु जो लोग वीर्य को गर्भ में वृद्धि पाने से रोकते हैं—उसे गर्भ तक नहीं जाने देते—वे उसी तरह का जुर्म करते हैं जिस तरह का जुर्म गर्भस्थ को पृथिवी में आने से रोक कर गर्भपात करके किया जाता है। इसलिए जब तक कामवासना का निरोध न किया जाय तब तक सन्ततिनिरोध का प्रश्न हल नहीं हो सकता। कामवासना का निरोध श्रृङ्गारवर्जित सादे मोक्षाभिमुखी अमोघवीर्यों से ही हो सकता है, दूसरों से नहीं। वही एक बार की रति से एक सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं। इसीलिये अमोघवीर्य आर्यों ने अपनी आर्य सभ्यता में एक सन्तान उत्पन्न करना अर्थात् एक ही बार रति करना धर्म माना था और एक से अधिक सन्तान उत्पन्न करना अर्थात् एक बार से अधिक रति करना अनार्यता समझा था *। यह अनार्यता काम्य पदार्थों से—शोभा, श्रृङ्गार, बनाव चुनाव और ठाट बाट से उत्पन्न होती है। पर काम्य पदार्थों की न तो शरीर को आवश्यकता होती है न बुद्धि और आत्मा को ही। काम्य पदार्थ तो केवल मन बहलाने के लिए एकत्रित किये जाते हैं। उदाहरणार्थ सर्दी के दिनों में शरीर को रजाई की जरूरत होती है। पर रजाई में अमुक प्रकार के बेल बूटों, गिरएट की चटापटी मगजी और नीले उपल्ला तथा पीले भितल्ला की जरूरत केवल मन बहलाने के लिए होती है। इसलिये रजाई अर्थ है और बेल बूटे

---

* तत्ववेत्ता सुकरात भी कहते हैं कि मनुष्य को जिन्दगी में एक ही बार मैथुन करना चाहिये।

तथा मगजी आदि काम है। पहले का उद्देश्य शरीररक्षा अर्थात् जीना है और दूसरे का उद्देश्य रति अर्थात् मरना है। पर मुमुक्षु का उद्देश्य मरना नहीं है, इसीलिये वह मारने वाले काम को अपना शत्रु समझता है। भगवद्गीता में लिखा है कि--

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥

अर्थात् ज्ञान का नाश करने वाला यह काम ही ज्ञानियों का--मुमुक्षुओं का--वैरी है। इसीलिये मुमुक्षुता अर्थात् संन्यास का लक्षण करते हुए गीता में बतलाया गया है कि 'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः' अर्थात् विद्वानों ने काम्य कर्मों के त्याग ही का नाम संन्यास कहा है। सच है, काम्य पदार्थ, काम्य कर्म, काम्य अभिलाषा ही जनसमाज में नाना प्रकार के दुःखों, असमानताओं और विप्लवों को जन्म देती है और वही मोक्ष में बाधा पहुँचाती है। क्योंकि यह मन से उत्पन्न होती है और मन बड़ा उच्छृङ्खल है। उसमें अनेकों जन्म के संस्कार हैं, यही कारण है कि निरंकुश मन जन्म-मरणवाले कर्मों की ही ओर दौड़ता है और रतिप्रधान काम्य पदार्थों में ही लिपटता है। वह विलास, आमोद-प्रमोद और ईर्ष्या-द्वेष को बढ़ा देता है और मनुष्य को हर प्रकार से पतित कर देता है। यही कारण है कि सारी राजनीति और समस्त धर्मशास्त्र मानसिक जरूरतों को मर्यादित कराने के ही कायदे बनाते हैं। क्योंकि पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, सभ्यता-असभ्यता और लोक परलोक सब मन के ही आधीन हैं। मनुष्य से जब कभी असावधानी होती है तो वह मन ही के कारण होती है। इसलिये सब शास्त्र यही कहते हैं कि मन से सावधान रहो। शास्त्रों में स्पष्ट ही कहा गया है कि 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' अर्थात् मनुष्य के बन्धमोक्ष का कारण मन ही है।

कुछ लोगों का ख्याल है कि स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार भूख के लिए आहार अथवा सर्दी के लिए रजाई आवश्यक है, पर यह बात बिलकुल गलत है। मैथुन आहार की तरह आवश्यक नहीं है। क्योंकि विना आहार के मनुष्य जी नहीं सकता, पर क्या कोई साबित कर सकता है कि विना स्त्रीसंग के भी मनुष्य क्षुधापीड़ा की भांति मृतप्राय हो सकता है अथवा उसके विना मनुष्य की कायिक या आत्मिक

या वैज्ञानिक कोई हानि हो सकती है ? कभी नहीं, हरगिज नहीं। यदि हानि होती तो ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की उत्पत्ति ही न होती, पहलवानों को सुरक्षित रहना मुश्किल हो जाता और विधवाधर्म तथा पतिव्रताधर्म का नाम ही न सुनाई पड़ता। पर हम ये समस्त बातें संसार में देख रहे हैं, इससे ज्ञात होता है कि काम तो कामना अर्थात् मन का ही विकार है और केवल कामियों के मन बहलाने की ही चीज है, आहार की भांति शरीर के लिये आवश्यक वस्तु नहीं। इसीलिए वीर्य को मनसिज, मनोज और कामदेव आदि नामों से सूचित किया गया है। कहने का मतलब यह है कि जब रति ही कोई आवश्यक वस्तु सिद्ध नहीं होती और जब वह केवल मन की ही खिलवाड़ प्रतीत होती है, तो मन से उत्पन्न होने वाली और शोभा शृङ्गार तथा ठाट-बाट से सम्बन्ध रखने वाली कोई भी रतिप्रधान वस्तु आवश्यक सिद्ध नहीं हो सकती। इन वस्तुओं की आवश्यकता तो बिलकुल ही मन की मिथ्या कल्पना और कुसंस्कारों से उत्पन्न होती है अतः इनकी वास्तविक आवश्यकता नहीं है।

आज संसार में जो अशान्ति फैल रही है उसका कारण केवल लोगों के मन ही हैं। मनुष्यों के निरंकुश मनों ने अपनी कामनाओं को इतना अधिक अमर्यादित कर दिया है कि प्रायः मनुष्यसमाज काम्य पदार्थों का गुलाम बन कर कामी बन गया है। जहां आर्य सभ्यता काम को दबाने के लिये २४, ३६ और ४४ वर्ष का ब्रह्मचर्य पालन करके सादे अर्थ का आश्रय लेकर और अमण्डन अर्थात शृङ्गार से बचकर अमोघवीर्यत्व प्राप्त करने का आयोजन करती है, वहां आज अनार्य सभ्यता वीर्यरक्षा की अवगणना करके काम को उत्तेजना देने के लिए असाधारण सम्पत्ति का आश्रय लेकर और विलास अर्थात् शृङ्गार में फंसकर व्यर्थ वीर्यपात का प्रबन्ध करती है। यही कारण है कि अनार्यसभ्यता के इस अमर्यादित विलास ने संसार को कामी बनाकर पतित कर दिया है। अर्थात् जहां आर्य सभ्यता सदैव अर्थशुद्धि को प्रधान मानती हुई तपस्वी जीवन के साथ मोक्षप्राप्ति की ओर ले जाती है वहां अनार्य सभ्यता अर्थ वृद्धि के द्वारा कामुकता को बढ़ा कर संसार में कलह उत्पन्न करती है। आर्य सभ्यता ने अर्थ और काम के दो विभाग करके शरीर और मन के साथ उनका सामञ्जस्य किया था और दोनों को वैज्ञानिक रीति से हल करके पृथक्-पृथक् उपस्थित किया था, किन्तु आज वर्तमान अनार्य सम्पत्तिशास्त्र अर्थ और काम

को एक ही में मिलाकर 'पोलिटिकल एकानामी' के नाम से संसारव्यापी हो रहा है। इसलिए जिस प्रकार हम काम के विषय में आर्यों की नीति की आलोचना कर आये हैं उसी तरह हम यहां वर्तमान अनार्य पोलिटिकल एकानामी के समस्त अङ्ग उपाङ्गों का सारांश लिखकर दिखलाना चाहते हैं कि वह कितनी अशुद्ध है और किस प्रकार विशुद्ध अर्थ में—साधारण भोजन, वस्त्र, गृह, गृहस्थी में—काम्य अर्थात् शृङ्गार और विलासप्रधान पदार्थों का समावेश कर रही है और किस प्रकार संसार में कामुकताजन्य सन्ततिविस्तार से अशांति फैलाये हुए है।

अनार्यसभ्यता अर्थात् पोलिटिकल एकानामी

यद्यपि वर्तमान सम्पत्ति शास्त्र के प्रायः समस्त विद्वानों ने माना है कि अभी पोलिटिकल एकानामी अर्थात् राजनैतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त अपूर्ण हैं तथापि इसके जो उद्देश्य और सिद्धान्त कायम किये गये हैं उनके देखने से पता लगता है कि पोलिटिकल एकानामी के नियमों के अनुसार मनुष्य को खूब सम्पत्तिवान् होना चाहिये। खूब सम्पत्तिवान् होने का मतलब यह है कि मनुष्य के घर में नागरिक जीवन बनाने वाला अर्थात् शृङ्गार और विलास के बढ़ाने वाला सामान अधिक हो। अधिक सामग्री ही सभ्यता का चिन्ह है, इसलिये सभ्यता बढ़ाने वाले अमित पदार्थों के संग्रह के ही लिए खूब धन इकट्ठा करना चाहिये। धन का स्रोत व्यापार है, इसलिए व्यापार सम्बन्धी ऐसे पदार्थ तैयार करने चाहियें जो अन्य देशों के बने हुए सामानों से सस्ते और अच्छे हों। इनकी तैयारी के लिए कम्पनियों के द्वारा धन राशि एकत्रित करके और धन से कच्चा माल खरीद कर यन्त्रों के द्वारा पक्का माल तैयार करना चाहिये और इस तैयार माल को अपने राजा के दबदबे की सहायता से दूसरे देशों में जाकर बेचना चाहिये और वहां से कच्चा माल लाकर अपने यहां फिर सस्ता माल तैयार कराना चाहिये। यही वर्तमान व्यापार की सच्ची परिभाषा कही जाती है और यही पोलिटिकल एकानामी का मूल समझा जाता है।

राजा की सहायता लेने के कारण बहुधा दूसरे राजों से लड़ाई छिड़ जाती है, इसलिये अपने देश में बड़ी-बड़ी मार वाले शस्त्रों को बनाना और सारी प्रजा मिलकर लड़ने के लिये तैयार रहना इस सम्पत्ति के प्रति कर्तव्य समझा जाता है। युद्ध के लिए जातीयता का दृढ़ करना और राष्ट्रीयता का नाम

देशरक्षा रखकर देश सेवा का अनुराग पैदा करना इसमें कुंजी की बात समझी जाती है, और किसी विशेष सभ्यता के प्रचार करने का हठ करके उलझनों को बढ़ाना और युद्धों के लिए तैयार रहना आवश्यक समझा जाता है। चूंकि देखने सुनने में लड़ाई करने की तैयारी जरा असभ्य प्रतीत होती है, इसलिये विज्ञान का सहारा लेकर यह बहाना किया जाता है कि भाई संसार में भोग करने वालों से भोग्य पदार्थ कम हैं, तिस पर भी सृष्टि बे-हिसाब बढ़ रही है और एक समय आने वाला है जब धरती पर पैर रखना मुश्किल हो जायगा। इसलिये बहुत सी पृथिवी अपने कब्जे में लेकर उसे अमित धन—सोना-चांदी और हीरा मोती से भर लेना चाहिये और शस्त्रों तथा जातिप्रेम के अमित बल से अपनी रक्षा करके दूसरों को दबाबे रहना चाहिये। यह वर्तमान-पोलिटिकल एकानामी का विज्ञान-प्रकरण है। बस यही वर्तमान सम्पत्ति शास्त्र अर्थात् पोलिटिकल एकानामी के साधारणतः प्रकट और गुप्त नियम और उद्देश्य हैं। सारांश रूप से वर्तमान सम्पत्ति की परिभाषा आवश्यक पदार्थ हैं, और आवश्यक पदार्थों की परिभाषा अमित पदार्थ हैं। अमित पदार्थों में बेशुमार चीजें आ जाती हैं और बेशुमार चीजों के लिये कहा जाता है कि न मालूम कब किस वस्तु की आवश्यकता पड़ जाय इसलिए यद्यपि वर्तमान सम्पत्ति के पदार्थों की गणना नहीं हो सकती तथापि आवश्यक पदार्थ कहने से उसके समस्त पदार्थों की गणना हो जाती है।

इस सम्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाली तीन बातें हैं, (१) सम्पत्ति की आवश्यकता (२) सम्पत्ति का स्वरूप और (३) सम्पत्ति के प्राप्त करने के उपाय। इनमें सब से पहिली बात सम्पत्ति की आवश्यकता की है। सम्पत्ति-शास्त्री कहते हैं कि सम्पत्ति की आवश्यकता के दो कारण हैं। एक तो नागरिक जीवन है जिसमें अमित आवश्यक पदार्थों की आवश्यकता होती है, और दूसरा जनसंख्या की वृद्धि और भोग्य पदार्थों की न्यूनता है जिसके कारण अमित सम्पत्ति कब्जे में रखने की आवश्यकता है। दूसरी बात सम्पत्ति के स्वरूप की है। सम्पत्तिशास्त्री कहते हैं कि पृथिवी, श्रम और पूंजी सम्पत्ति के स्वरूप हैं। पृथिवी में खदान और खेत हैं और श्रम तथा पूंजी से यन्त्र और खाद तैयार होती है, इसलिए पृथिवी खेत, यन्त्र और खाद ही सम्पत्ति का असली स्वरूप है। तीसरी बात सम्पत्ति के प्राप्त करने के उपायों की है। इसके लिए सम्पत्तिशास्त्री कहते हैं कि कम्पनी, शासन और जातीयता से ही

अमित सम्पत्ति की प्राप्ति, रक्षा और भोग हो सकता है। इस प्रकार वर्तमान पॉलिटिकल एकानामी से सम्बन्ध रखने वाले (१) नागरिक जीवन (२) जनवृद्धि (३) खदान (४) खेत (५) खाद (६) यन्त्र (७) कम्पनी (८) शासन और (९) जातीयता आदि नौ विभाग हैं। हम यहां क्रम से इन समस्त विभागों की साधारण आलोचना करके देखना चाहते हैं कि क्या ये समस्त विभाग सृष्टि नियम के अनुकूल हैं और क्या इनकी गणना अर्थशास्त्र के अन्दर हो सकती है।

नागरिक जीवन और जनवृद्धि

नागरिक जीवन और जनवृद्धि की आशंका से प्रेरित होकर ही आजकल अमित सम्पत्ति की आवश्यकता बतलाई जाती है, परन्तु हम देखते हैं कि ये दोनों बातें अशुद्ध हैं। इन दोनों बातों में पहिले नागरिक जीवन को ही लीजिये। नागरिक जीवन बड़े बड़े नगरों में रहने से ही उत्पन्न होता है। जहां खरीदने और बेचने का बाजार होता है, और जहां कोई बड़ा राजकर्मचारी या राजा रहता है, जहां कोई बड़ा घाट या बन्दर होता है और जहां कोई तीर्थ अथवा और कोई ऐसा ही जमघट का स्थान होता है वहीं धीरे-धीरे नगर बन जाता है और नगर में रहने वालों में चार दोष उत्पन्न हो जाते हैं। ये अभिमानी, विलासी, रोगी और झूठे हो जाते हैं। क्योंकि खरीदने बेचने वाले, राजकर्मचारी और तीर्थवासी मनुष्य अन्य जनता की अपेक्षा मालूमात अधिक रखते हैं, इसलिये वे अपने को स्वभावतः बड़ा आदमी मानने लगते हैं। वे अपनी रहन-सहन और भेष-भूषा में कुछ विलक्षण फेरफार कर लेते हैं और फैशन के गुलाम बनकर विलासी हो जाते हैं। नाच, तमाशा, गाना बजाना, और विषयासक्ति इतनी बढ़ जाती है कि सभी लोग किसी न किसी रोग का शिकार हो जाते हैं। जुआ खेलना, ठगाई करना और झूठ बोलना थोड़ा बहुत सभी में आ जाता है। इस तरह ये अपने चारों दोषों के कारण हर प्रकार से पतित हो जाते हैं। परन्तु अनजान ग्रामीण इनको सभ्य समझते हैं, अतः इनकी नकल करना आरम्भ कर देते हैं और वे भी अपना सर्वस्व खो देते हैं।

नागरिक जीवन में अमित पदार्थों का सञ्चय ही प्रधान कार्य बन जाता है और यन्त्रों का आविष्कार आरम्भ हो जाता है। नागरिकों के स्वभाव में यहां तक अत्याचार बढ़ जाता है कि वे अपने ही सदृश मनुष्य से पीनस उठवाने, रिक्सा खिंचवाने और पखाना साफ कराने का काम लेते हैं। इनके कारण

नगर में वेश्याओं की दुकानें, शराब की दुकानें, जुए (सट्टे) की दुकानें और कुटिल नीति (मुकद्दमेबाजी) की दुकानें खुल जाती हैं। बंसी लगाये हुए मछली का मारने वाला जिस प्रकार मछली की ताक में बैठा रहता है उसी तरह प्रत्येक नागरिक सीधे-सादे मनुष्य को फंसाने-लूटने की ताक में बैठा रहता है।

विलास के लालच से मोहित होकर ग्राम के मनुष्य शहरों में जमा होने लगते हैं और थोड़े ही दिनों में शहरों की आबादी इतनी घनी हो जाती है कि पखाना, पेशाब, धूल और धुएं की गन्दगी से मनुष्यों के स्वास्थ्य बिगड़ने लगते हैं। दवा, सफाई और कपड़े धुलाई का खर्च इतना बढ़ जाता है कि उसकी चिन्ता शरीर को रोग का घर बना देती है। रेल, मोटर, ट्राम और इक्का गाड़ी तथा मिल और इंजिनों की भरमार से सैकड़ों आदमी लंगड़े और अन्धे हो जाते हैं और सैकड़ों मर जाते हैं। नगरों में शुद्ध हवा, शुद्ध जल, शुद्ध घी-दूध, शुद्ध फल और शुद्ध अन्न कभी देखने को नहीं मिलता। हरे खेतों का दर्शन, बाग बगीचों की सैर, पशुओं का कल्लोल और पक्षियों का कलरव कभी सुनाई नहीं पड़ता। अर्थात् मनुष्य का जीवन इतना अस्वाभाविक बन जाता है कि वह रोग, खर्च और अभिमान के कारण जिन्दा ही प्रेत हो जाता है। इसलिए नागरिक जीवन सृष्टि नियम के बिलकुल ही प्रतिकूल है और नागरिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली अमित सम्पत्ति बिलकुल ही अस्वाभाविक है। ऐसा अस्वाभाविक नागरिक जीवन नितान्त आसुरी जीवन है, इसीलिए आर्य सभ्यता में नगरों के लिए स्थान नहीं है।

आर्य सभ्यता के नगर का आदर्श हम आय ग्राम के वर्णन में लिख आये हैं। आर्य नगर तो केवल राजा के निवास के ही कारण बनता था जो छोटे-छोटे ग्रामों और बाग बगीचों तथा जंगलों के टुकड़ों से सदैव घिरा रहता था। हमारी यह बात दो प्रमाणों से सिद्ध होती है। एक प्रमाण तो यह है कि प्रत्येक आर्य को सन्ध्या करने के लिए दोनों वक्त नित्य जंगल में जाना लिखा है *। और दूसरा प्रमाण यह है कि आर्यभाषा संस्कृत में भंगी और पखाने के लिए कोई शब्द नहीं है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि लोग शौच के लिए भी जंगल में ही जाते थे। इन दोनों प्रमाणों से सिद्ध होता है कि आर्यनगर

---

* अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः॥ (मनु० २।१०४)

जंगलों से घिरे रहते थे और जंगल ग्रामों तथा नगरों से घिरे रहते थे। नहीं तो नित्य दोनों समय सन्ध्या और शौच के लिए कोसों कोई कैसे जाता। इसलिए आर्यनगर वर्तमान नगरों की भांति न थे। वर्तमान नगर तो आसुर नगर हैं अतः ऐसे नगरों को तो वेद में इन्द्रवृत्र के अलंकार से तोड़वा देने की आज्ञा है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

त्वं मायाभिरप मायिनोऽधमः स्वधाभिर्ये अधि शुप्तावजुह्वत।
त्वं पिप्रोर्नृमणः प्रारुजः पुरः प्र ऋजिश्वानं दस्युहत्येष्वाविथ॥

(ऋग्वेद १।५१।५)

अर्थात् हे राजन्! आप प्रकृष्ट बुद्धि वाले, छलकपटयुक्त अयज्वा और अव्रती दस्युओं को कम्पायमान कीजिये और जो यज्ञ न करके अपने ही पेट भरते हैं उन दुष्टों को दूर कीजिये और इन (पिप्र) उपद्रव, अशान्ति, अज्ञानता और नास्तिकता फैलाने वाले जनों के नगर को भग्न कर दीजिये तथा दुष्टों का हनन करके सरल प्रकृति मनुष्यों की रक्षा कीजिये।

शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत्।
दिवोदासाय दाशुषे॥ (ऋ० ४।३०।२०)

अर्थात् राजा को चाहिये कि वह द्यूत खेलने वाले जुआ चोरों के पाषाणनिर्मित समस्त नगरों को तोड़वा दे। इन प्रमाणों से सूचित होता है कि आर्यसभ्यता में नागरिक जीवन असुर प्रवृत्ति वाला समझा जाता है, इसीलिये नगरों के तोड़वा देने की आज्ञा दी गई है। आर्य सभ्यता में जब नगरों की ही आवश्यकता नहीं बतलाई गई तब भला नागरिक जीवन और नागरिक सम्पत्ति की बात कहां बतलाई जा सकती है।

अब रही बात जनसंख्या की वृद्धि की। कहा जाता है कि जनसंख्या की वृद्धि से भोग्य पदार्थ और पृथिवी कम होती जाती है। परन्तु इस बात में भी अधिक दम नहीं है। हम इस सृष्टि का यह प्रबल नियम देख रहे हैं कि पहिले भोग्य उत्पन्न हो जाता है तब भोक्ता उत्पन्न होता है अर्थात् बच्चा उत्पन्न होने के पहिले ही दूध तैयार हो जाता है और पशु-पक्षी तथा मनुष्यों के उत्पन्न होने के पहिले ही वनस्पति उत्पन्न हो जाती हैं। प्रजोत्पत्तिकेविषय में विद्वानों की यह राय है कि चालीस दिन के बाद खाये हुए पदार्थों का वीर्य बनता है जिससे सन्तान उत्पन्न होती है और दस महीने भोजन प्राप्त करलेने के बाद ही माता बच्चे को पेट से बाहर निकालती है। इसलिये संसार में जब

तक सन्तति उत्पन्न होती जाती है तब तक कौन कह सकता है कि भोग्यों की कमी है। भोग्य कम होने पर न तो पिता का वीर्य ही बनेगा और न दस महीने तक खा पीकर माता ही बच्चे को पैदा कर सकेगी। ऐसी दशा में जब कि लोगों के सन्तान हो रही हैं तब कैसे कहा जा सकता है कि भोग्य कम हो रहे हैं। हमारी समझ में तो जब भोग्य इतने कम हो जायेंगे कि जिनसे भविष्य में प्रजा का पोषण न हो सकेगा तो माता के पेट में बच्चों का आना ही बन्द हो जायगा।

प्रायः लोग कहते हैं कि यद्यपि प्रजा उत्पन्न होती है तथापि पृथिवी में खुराक की कमी तो है ही, क्योंकि यदि लाखों मन मछलियों और पशुओं का मांस न होता तो लोग भूख से मर जाते। हम कहते हैं इसमें पृथिवी का दोष नहीं है। इसमें उनका दोष है जिन्होंने पृथिवी का दुरुपयोग कर रक्खा है। लाखों एकड़ जमीन मिर्च, मसाला, गांजा, भंग, चाय और अफीम के उत्पन्न करने में रोकी गई है, लाखों एकड़ जमीन रुई, सन और पाट की खेती के लिये रोकी गई है, लाखों एकड़ जमीन मशीनों का तेल उत्पन्न करने के लिए रोकी गई है और लाखों एकड़ जमीन रेल की सड़कों, सादी सड़कों और नहरों के लिए रोकी गई है, इसी तरह लाखों एकड़ जमीन में पैदा होने वाला गल्ला शराब बनाने में खर्च कर दिया जाता है। इस समस्त जमीन पर यदि मनुष्य का खाद्य उत्पन्न किया जाता और पशुओं की बसर के लिए घास उत्पन्न की जाती तो जितना खाद्य आज संसार में उत्पन्न होता है उससे दूना होता और सब को पेट भर अन्न खाने को मिल जाता और मांस के लिये पशुअ की हत्या न करनी पड़ती और उनसे उत्पन्न हुए दूध घृत से भी मनुष्यों के आहार में सहायता मिलती।

यद्यपि हम भी मानते हैं कि धीरे-धीरे मनुष्यों की संख्या बढ़ रही है, परन्तु हम यह भी मानते है कि धीरे-धीरे पृथिवी भी बढ़ रही है। यदि पृथिवी धीरे-धीरे न बढ़ती तो आदि सृष्टि से आज तक इतने प्राणियों को जगह कौन देता? क्या आदि में पृथिवी की यही स्थिति थी? कभी नहीं। आदि में तो समस्त पृथिवी जल से भरी हुई थी। जैसे-जैसे सृष्टि बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे समुद्र सूखते जाते हैं और पृथिवी बसने के योग्य होती जाती है। पृथिवी का अब तक एक तिहाई भाग समुद्र से बाहर खुल पाया है और दो तिहाई में पानी भरा हुआ है। जितने में समुद्र भरा है उस जलमय समुद्र

के पेट से अब भी पृथिवी के टुकड़ों की उत्पत्ति होती रहती है। जब-जब ज्वालामुखी अग्निप्रपात और भूकम्प होते हैं तब-तब कहीं न नहीं समुद्र से पृथिवी के बाहर निकलने का सूत्रपात होता है और कभी-कभी पृथिवी बाहर निकल भी आती है। इसके अतिरिक्त पहाड़ धीरे-धीरे टूट टूट कर जमीन का रूप धारण कर रहे हैं। झांसी के पास यह दृश्य बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। इसी तरह बड़े-बड़े रेत के मैदान धीरे-धीरे लसदार मिट्टी के रूप में परिणत हो रहे हैं। यह दृश्य भी मारवाड़, काठियावाड़ और कच्छ में अच्छी तरह दिखलाई पड़ता है। इसलिए यह बात बिल्कुल गलत है कि जनसंख्या की वृद्धि के कारण पृथिवी में तंगी है। यह तो एक वैज्ञानिक बहाना है जो दूसरों के देश में कब्जा करने के लिए किया जाता है। हमारी समझ में तो जो तंगी है वह पृथिवी के कारण नहीं प्रत्युत वह नागरिक विलासियों की खुद उत्पन्न की है। नागरिकों ने अपने विलास के लिए संसार के अपरिमित पदार्थों को अपने घरों में इकट्ठा कर रक्खा है। एक-एक जॅटलमैन के पास आठ-आठ ट्रङ्क कपड़े, सोलह-सोलह जोड़े बूट और दो-दो सौ कुर्सियों का जमघट जमा है। एक-एक लेडी का कमरा ह्वाइटवे लेडला कम्पनी की दुकान बन रहा है। उधर गांव में उसी प्रकार की शकल सूरत वाली एक कुलवधू के शरीर पर लज्जा निवारण के लिए एक साधारण वस्त्र भी मजबूत नहीं है। चाय सिगरेट और गांजा, भंग से लदी हुई रेल गाड़ियां और जहाज संसार भर में दौड़ रहे हैं और एक-एक धनवान् का घोड़ा सोलह-सोलह आदमी की खुराक का दाना पा रहा है, परन्तु गरीबों को आधे पेट अन्न का भी ठिकाना नही है। ऐसी दशा में कौन कह सकता है कि यह तंगी पृथिवी के कारण उत्पन्न हुई है। हम तो यही कहते हैं कि यह तंगी नागरिक जीवन से उत्पन्न हुई है। इसलिए जनसंख्या की वृद्धि की आशंका से अमित सम्पत्ति को हस्तगत करने का सिद्धान्त बिल्कुल ही गलत है। क्योंकि जनसंख्या की वृद्धि अमित सम्पत्ति से बन्द नहीं हो सकती, अमित सम्पत्ति से तो वह और भी बढ़ेगी, इसलिये इस नागरिक और काम्य सम्पत्ति का मोह छोड़ कर जब सादा, तपस्वी और मोक्षाभिमुखी जीवन बनाया जायगा तभी सन्ततिनिरोध भी सम्भव है और तभी मनुष्यजाति को सुख शान्ति की आशा भी हो सकती है। अतएव आजकल की आसुरी सम्पत्ति की बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं है।

खेत, खाद, खदान और यन्त्र

गत पृष्ठों में वर्तमान सम्पत्ति की आवश्यकता पर विचार करने से ज्ञात हुआ कि मनुष्य जाति को इस प्रकार की सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं है। अब देखना चाहते हैं कि क्या उस सम्पत्ति का स्वरूप सही है। वर्तमान सम्पत्ति का स्वरूप वर्णन करते हुए अर्थशास्त्रियों ने पृथिवी, श्रम और पूंजी को सम्पत्ति का स्वरूप माना है। पृथिवी में खदान और खेत प्रधान हैं तथा श्रम और पूंजी में यन्त्र और खाद प्रधान हैं। वैज्ञानिक खाद डालकर और यन्त्रों से जोतकर खेतों में अन्न, रुई, तेल और फल आदि उत्पन्न किये जाते हैं और फिर यन्त्रों के ही सहारे उनसे नाना प्रकार के अन्य पदार्थ तैयार होते हैं। इसी तरह खदानों से खनिज पदार्थों को निकाल कर यन्त्रों के द्वारा ही नाना प्रकार के पदार्थ तैयार किये जाते हैं और यन्त्रों से ही इधर उधर भेजे जाते हैं। इसीलिए सम्पत्ति के उपयुक्त चार विभाग खेत, खाद, खदान और यन्त्र ही सम्पत्ति का स्वरूप समझे जाते हैं। हम यहां क्रम से इन चारों स्वरूपों की आलोचना करते हैं।

हम मनुष्य के आहार प्रकरण में लिख आये हैं कि मनुष्य की असली खुराक फल, फूल और दूध-दधि हैं। ये पदार्थ पशुओं और फलदार दरख्तों तथा फलदार बेलों से उत्पन्न होते हैं। इसलिए मनुष्य को इन्हीं की खेती करनी चाहिये, अन्न की नहीं। अन्न की खेती से जंगलों, वाटिकाओं और बाड़ियों का नाश हो जाता है और पशुओं के चरागाह कम हो जाते हैं जिस से दूध और घी में कमी हो जाती है। इसके अतिरिक्त जंगलों, वाटिकाओं और चरागाहों के नष्ट होने से अवर्षण भी हो जाता है और नाना प्रकार की बीमारियां भी पैदा हो जाती हैं। इसलिए खेती करना अर्थात् अन्न के लिए जमीन का अधिक भाग रोकना सृष्टि नियम के विरुद्ध है। किन्तु वाटिका लगाना, चरागाह बनाना और जंगल बढ़ाना सृष्टि नियम के अनुकूल है। जंगलों में जहां मनुष्यों के खाने के लिए फल मिलते हैं वहां अन्न भी उत्पन्न होता है। आरम्भ में समस्त अन्न जंगलों में ही उत्पन्न होते थे और अब भी अनेक देशों में कई प्रकार के अन्न जंगलों में ही घास की तरह उत्पन्न होते हैं। इसलिये केवल जंगलों की वृद्धि से ही फल फूल, दूध घी और अनेक प्रकार के अन्नों की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु खेत अकेला अन्न ही देते हैं, शेष फल-फूल, घी-दूध, वर्षा और आरोग्य का नाश कर देते हैं;

इसलिये खेती करना उचित नहीं है। मनु भगवान् स्पष्ट शब्दों से मना करते हैं कि 'हिंसांप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत्' इस हिंसामय दैवाधीन खेती को कभी न करना चाहिये।

जब खेती ही सृष्टि नियम के विरुद्ध है तब खेतों में अपवित्र और रसायनिक खाद का डालना कब अनुकूल हो सकता है? हां जंगलों में और बाग बगीचों में जो स्वाभाविक खाद पत्तों और पशुओं के गोबर मूत्र से बन कर पहुँचता है वही वृक्षों के लिए हितकर होता है। किन्तु जो खाद मनुष्यों के पेशाब पैखाना और मछली आदि से तैयार किया जाता है वह बड़ा ही हानिकारक होता है। मलिन खाद से खाद्य पदार्थों का असली गुण नष्ट हो जाता है। अमेरिका से निकलनेवाले 'मे फ्लावर' नामक अखबार में एक लम्बा लेख छपा है जिसमें वैज्ञानिक रीति से सिद्ध किया गया है कि कृत्रिम और मलिन खाद अन्न को दूषित कर देता है और वह दूषित अन्न खाने वाले को हानि पहुँचाता है। मलिन खाद से उत्पन्न हुआ अन्न योरप निवासी भी पसन्द नहीं करते। इसीलिए मनु भगवान् कहते हैं कि 'अमेध्यप्रभवाणि च' अर्थात् अपवित्र स्थानों में उत्पन्न होनेवाले अन्न न खाना चाहिये। तात्पर्य यह है कि इस सम्पत्ति शास्त्र में जिस प्रकार की खाद का महत्व बतलाया गया है वह भी अस्वाभाविक है।

खेत और खाद के बाद खदान और यन्त्रों का नम्बर है। खदान और यन्त्रों का प्रश्न बड़ा भयंकर है। खदानों में परमात्मा ने न मालूम किस उपयोग के लिये खनिज पदार्थों को सुरक्षित रक्खा है। परन्तु आजकल सम्पत्तिशास्त्री उस धरोहर को निकाल निकाल कर इधर का उधर कर रहे हैं। कौन जानता है कि ये खनिज पदार्थ पृथिवी में भीतर ही भीतर क्या असर कर रहे हैं और निकल जाने पर क्या असर होगा? विना समझे बूझे, विना किसी प्रमाण और दलील के मनुष्य को क्या अधिकार है कि वह इन पदार्थों में हाथ लगावे। हम देखते हैं कि करोड़ों मन कोयला खदानों से निकाला जा रहा है। लोग कहते हैं कि कोयले में प्राणनाशक वायु अधिक होती है जो वृक्षों की खुराक है। किन्तु वृक्षों को कोयले से मिला हुआ जो रस या वायु मिलती थी वह कोयला निकल जाने से अब नहीं मिलती। ऐसी दशा में सम्भव है कि वृक्षों के फलों में और अन्न के गुणों में कमी हुई हो। आज जो सैकड़ों बीमारियां फैल रही हैं सम्भव है वे इसी उपद्रव का फल हों। कहते

का मतलब यह है कि जिस बात को हम जानते ही नहीं और न त्रिकाल में कभी जान ही सकते हैं उस बात में हाथ डालना और प्रकृति के रचित पदार्थों को निकाल कर नष्ट करना कहां की बुद्धिमत्ता है ? सोना, चांदी, हीरा, पन्ना, मैनसिल, हरताल और पारा आदि को सभी लोग जानते हैं कि इनमें स्वास्थ्य सम्बन्धी बड़े से बड़ा असर मौजूद है। ऐसी हालत में हम कैसे मान लें कि उनकी टालटूल से सृष्टिमें महान् परिवर्तन न हुआ होगा ? हमें तो विश्वास है कि ये हर वर्ष के अवर्षण, बीमारी और बड़े-बड़े क्रूर स्वभाव वाले कार्य सृष्टि में सब इन्हीं पदार्थों के फेर-फार—टालटूल से होते हैं। इसके सिवा खदानों से निकले हुए अपरिमित सोना, चांदी, हीरा, मोती आदि पदार्थों ने संसार में बेहद असमानता पैदा कर दी है जिससे कोई बेहद धनी और कोई बेहद गरीब कहलाने लगा है।

इसलिए ऐसे निरर्थक पदार्थों को कीमती बनाकर लोगों की रुचि उसी तरफ लगाना क्या कोई कम पाप की बात है ? एक व्यक्ति, जिसको सोने, चांदी आदि के आभूषणों को पहिनने का कभी ध्यान भी नहीं था उसे सोना, चांदी और हीरा मोती दिखला कर उस ओर लालायित करना क्या कम अत्याचार है। आज संसार में जो आभूषण-सम्बन्धी काल्पनिक दुःख से मनुष्य दुःखी हो रहे हैं, आज जो संसार में हाय-हाय मची है कि हमारे कण्ठा नहीं हमारे जड़ाऊ चेन नहीं और हमारे अंगूठी नहीं, यह क्या कम शोक की बात है ? जिन मनुष्यों ने इन व्यर्थ पदार्थों को कीमती बना कर साधे-सादे मनुष्यों को इस कल्पना के दुःख में फंसाया है क्या उन्होंने कम पाप किया है ? हम तो दावे से कहते हैं कि जिन्होंने पहिले और इस समय ऐसे पदार्थों का रिवाज पैदा करके मनुष्यों को उस ओर प्रवृत्त किया है वे मनुष्य जाति के ही नहीं प्रत्युत प्राणिमात्र के शत्रु हैं। इसलिए खेती और खदान दोनों ही व्यर्थ हैं और मनुष्य समाज में पाप के बढ़ाने वाले हैं।

इन सब में यन्त्रों का आविष्कार तो खेत और खदानों से भी अधिक भयंकर है। यन्त्रों ने संसार में कितना अत्याचार कर रक्खा है, वह सब की आंखों के सामने है। यन्त्रों ने मनुष्यों, घोड़ों, बैलों, हाथियों और खच्चर आदि पशुओं के कर्मक्षेत्रों को एक दम ही बन्द कर दिया है। जिस काम को हजारों मनुष्य और हजारों पशु मिलकर कर सकते थे, आज यन्त्रों के सहारे उसी काम को थोड़ा सा लोहा, कोयला और दो चार आदमी कर लेते हैं।

शेष मनुष्य और शेष पशु निकम्मे हो गये हैं और मारे-मारे फिरते हैं। उनके लिए संसार में कोई काम ही नहीं। यही कारण है कि विना उद्योग के मनुष्य तो धनिकों के गुलाम बन गये हैं अथवा भूख से मर रहे हैं और पशु छुरी के नीचे अपनी गर्दन कटा रहे हैं। इन यन्त्रों के ही कारण संसार में जगह-जगह स्ट्राइक और अनारकिज्म की आसुरी आवाज सुनाई पड़ रही है और हर जगह लड़ाइयां जारी हैं। यन्त्रों के ही कारण जंगल कट गये हैं, प्रति वर्ष अवर्षण होता है, जलवायु बिगड़ जाता है, सृष्टि सौन्दर्य नष्ट हो गया है और मनुष्य मनुष्य का जानी दुश्मन बन रहा है। इसलिए हम कहते हैं कि यदि यन्त्र न होते, तो आज संसार का नक्शा दूसरा ही होता।

आप कल्पना कीजिए कि आज संसार में सब प्रकार के इञ्जिन, रेल, मोटर, ट्राम, साइकिल, बिजली से जलने वाले चिराग और बिजली से चलने वाले पंखे नहीं हैं, अर्थात् किसी प्रकार का कोई भी आसुरी यन्त्र नहीं है। अब आप सोचिए कि आपकी सवारी कैसे जायगी और आपके पदार्थ इधर उधर कैसे ढोये जायेंगे। इसका उत्तर यही हो सकता है कि पशुओं के द्वारा सवारी और बारबरदारी का काम चलेगा। फिर प्रश्न है कि इतने पशु चरेंगे कहां? तो उत्तर स्पष्ट है कि चरागाहों में—जंगलों में। अब फिर प्रश्न है कि जब सारी पृथिवी में जंगल ही हो जायेंगे, तो मनुष्य खायेंगे क्या, तो इसका उत्तर स्पष्ट है कि फलदार वृक्षों के फल और पशुओं का दूध, घृत मनुष्य खायेंगे और छोटे वृक्ष (तृण) तथा दाना पशु खायेंगे और समस्त प्राणि-समूह का योग क्षेम आनन्द से चल पड़ेगा और संसार आनन्दकानन बन जायगा। जहां पर जंगल है, वहां आज भी बड़ा आनन्द है। आज ३० वर्ष से हिन्दुस्थान में प्लेग मनुष्यों का सत्यानाश कर रही है, पर जंगल में इसकी दाल नहीं गली। वहां आज तक लोग प्लेग को जानते ही नहीं। इसका यही कारण है कि जंगलों में ऐसी बीमारियां नहीं होतीं और बीमार को जंगलों में ले जाते ही बीमारी जाती रहती है। जंगलों में समय पर वृष्टि होती है और भूमि सदैव शस्यश्यामला बनी रहती है। इस प्रकार केवल यंत्रों, मशीनों और खेतों के हटाने की कल्पना मात्र से स्वर्गीय सुख आंखों के सामने घूमने लगता है। फलों के टोकने और घी-दूध के प्रवाह बहने लगते हैं, वर्षा होने लगती है और प्लेग हैजा आदि बीमारी भाग जाती हैं। अर्थात संसार ही कुछ और का और हो जाता है इसलिए समस्त देशों से पदार्थों का

निकालना और उन समस्त यन्त्रों का चलाना जो स्प्रिंग, स्टीम और बिजली अथवा और कृत्रिम उपाय से चलाये जाते हैं, एक दम सृष्टि नियम के विरुद्ध हैं। इसीलिए मनु भगवान् कहते हैं कि—

सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम्।
हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूलकर्म च। (मनु० ११।६३)
उपपातकम्। (मनु० ११।६६)

अर्थात् समस्त खदानों में अधिकार करना, बड़े-बड़े यन्त्रों का चलाना, वृक्षों का काटना, वेश्यावृत्ति और व्यभिचार आदि का करना उपपातक हैं। यहां खदानों में अधिकार करना और महायन्त्रों का चलाना पाप बतलाया गया है। अतः ऐसे महायन्त्र जिनसे मनुष्यों अथवा पशुओं का कर्मक्षेत्र रुकता हो, आर्य सभ्यता में कैसे स्थान पा सकते हैं? आर्य सभ्यता में तो अगर्हित शिल्प के ही लिये स्थान है। मनु कहते हैं कि—

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः॥ (मनु० ९।७५)

अर्थात् यदि पति अपनी पत्नी का बिना प्रबन्ध किये परदेश चला जाय, तो वह स्त्री अनिन्दित शिल्पों के द्वारा अपना निर्वाह करे। अनिन्दित शिल्पों का अर्थ है वैदिक शिल्प। वैदिक शिल्प वे हैं, जो अपने घर में अपने हाथ से किये जांय, जैसे चरखा कातना आदि। परन्तु जो शिल्प और यंत्र अनिन्दित नहीं हैं, गर्हित हैं, उनके लिए मनु कहते हैं कि—

शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः।
गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया।
कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः॥ (मनु० ३।६४-६५)

अर्थात् शिल्प से, रुपये के लेनदेन से, शूद्र सन्तान से, गौ घोड़ी की सवारियों से, खेती से, राजा की सेवा से और वेदों के न पढ़ने से कुल के कुल शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। इसलिए शिल्प, कृषि, नौकरी और नीच संगति को छोड़ दे। यहां निन्दित शिल्प और खेती की निन्दा की गई है। इसके सिवा ये निन्दित यंत्र बहुत दिन चल नहीं सकते। वे शीघ्र बन्द हो जायंगे। क्योंकि स्टीम बनाने के लिए जिस कोयले की आवश्यकता होती है, वह शीघ्र ही

खतम होने वाला है❀। इसी तरह बिजली जिन मसाओं से बनती है, वे भी खतम हो जायेंगे और यदि सूर्य से शक्ति ली जायगी, तो वह शक्ति जहां के लिए बनाई गई है, वहां न पहुँचेगी और घोर उपद्रव हो जायगा। रहा यह कि बिना रेल आदि के लोग दूर देश कैसे जायेंगे। इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो सबको सफर में जाने की आवश्यकता ही नहीं होती। क्योंकि प्रायः वैश्य लोग ही दूर देश जाते हैं। वे स्थल में पशुओं के द्वारा और जल में बिना इञ्जिन के जहाजों द्वारा जा सकते हैं। यदि इन सवारियों का अच्छा प्रबन्ध किया जाय, तो साल भर में सारी पृथिवी का चक्कर लग सकता है। यदि मनुष्य रोज २० मील चले, तो पैदल ही तीन चार वर्ष में सारी पृथिवी का चक्कर लगा सकता है। संसार का अवलोकन करने के लिए पैदल से अच्छा और कोई मार्ग नहीं। इसलिए ऐसे यन्त्रों को जिनसे किसी भी प्राणी का कर्मक्षेत्र रुकता हो कभी काम में न लाना चाहिये। साथ ही ऐसे यन्त्रों से बने हुए पदार्थ भी, चाहे वे स्वदेशी हों या विदेशी, कभी उपयोग करने के योग्य नहीं है। ये सब पदार्थ मनुष्यों या पशुओं को हानि पहुँचा करके ही बनते हैं, इसलिए प्राणियों के खून से बने हुए पदार्थों के द्वारा सजावट करने वाले मनुष्य का कभी भला होने वाला नहीं है। मशीनों के कारण ही लाखों कुली भूख भूख चिल्लाते फिरते हैं और लाखों पशु रोज कतल किए जाते हैं। मशीनें यदि न होतीं, तो इन सब प्राणियों की कदर होती। किंतु मशीनों

❀Already some of the smaller coalfields of Europe have been worked out, while in othtrs it has become necessary to sink much deeper shafts at an increasiug cost. There s not much tin left in Cornwall. not much gold in the gravel deposits of northern California. The r chest known goldfield of the world, that of Transval Witwaterstand, can hardly last more than thirty or forty years. Thus in a few centuries the productive capacity of many regions may have become quite different from what it is now with grave consequences to their inhabitants.

—Harmsworth—History of the World, Introduction, P. 33.

ने सबको निकम्मा बना दिया है, अतः मशीनों को सहारा देने में इतना ही पाप है, जितना अनेकों मनुष्यों या पशुओं के वध करने से होता है। इस प्रकार से यह खेत, खाद, खदान और यन्त्रों से बना हुआ कुचक्र सम्पत्ति का स्वरूप नहीं है। यह तो कामुकता का भयंकर चित्र है, जो मनुष्यों, पशुओं और वृक्षों को ही सताने वाला नहीं, प्रत्युत जल, वायु और वृष्टि आदि जड़ सृष्टि में भी उथल-पथल करने वाला है। इसलिए इसको शीघ्र ही नष्ट हो जाना चाहिए। इस सम्पत्ति के स्वरूप की आलोचना के आगे अब इस आसुरी सम्पत्ति के उत्पन्न करने वाले साधनों का भी विवरण देख लेना चाहिये।

कम्पनी, राज्यबल और जातीयता।

सम्पत्तिशास्त्रियों का कहना है कि सम्पत्ति की उत्पत्ति के लिए बहुत लोगों से थोड़ा-थोड़ा धन एकत्रित करके और सबको हानि-लाभ का भागीदार बनाकर व्यापार करने से ही अमित लाभ हो सकता है। क्योंकि इस ढंग से एक तो बहुत बड़ी धनराशि एकत्रित हो जाती है, जिसके बल से बहुत बड़ा व्यापार किया जा सकता है, दूसरे अन्य व्यापारियों का व्यापार पीछे हटाने के लिए यदि थोड़ा बहुत पहिले घाटा भी उठाना पड़े तो घाटे की हानि थोड़ी-थोड़ी बहुत से भागीदारों में बट जाती है, जिससे कम्पनी में धक्का नहीं लगता, प्रत्युत दूसरे व्यापारियों का धन्धा बन्द हो जाता है और शीघ्र ही वह समस्त लाभ कम्पनी को ही होने लगता है, जिसके द्वारा अनेकों व्यापारी और उस व्यापार से सम्बन्ध रखने वाले जीते हैं। इस प्रकार की कुटिल नीति से प्रेरित होकर कम्पनी का संगठन होता है और अपने राजा के बल तथा जातीयता की उत्तेजना से प्रबल बनकर और मशीनों के द्वारा शृंगारिक पदार्थों को बनाकर दूसरे देशों के बाजारों का सर्वस्व अपहरण किया जाता है। कम्पनी की इस नीति में प्रधान वस्तु धनराशि की है। सम्पत्तिशास्त्री इसी को पूंजी कहते हैं। वे कहते हैं कि विना पूंजी के सम्पत्ति उपार्जित नहीं हो सकती। पर यह पूंजीवाद जिसमें धनराशि के द्वारा शृंगारिक पदार्थों को बना कर दूसरों का व्यापार नष्ट करने की बात गर्भित है, नितान्त पतित और पापमूलक है। यहां हम धनराशि और दूसरों के व्यापार को पीछे हटाने की नीति की आलोचना करके देखते हैं कि वह कितनी अस्वाभाविक है।

आजकल धन का अर्थ सोना और चांदी माना जाता है। व्यापार में लेन-

देन का यही माध्यम है। इसी के द्वारा पदार्थों का मूल्य निश्चित होता है। पर यह सोना और चांदी व्यर्थ किस काम आता है—मानवजीवन में औषधि अतिरिक्त के यह किस मौके पर लाभदायक सिद्ध होता है—यही आज तक किसी ने नहीं बतलाया। प्रथम तो संसार में जितनी कीमत के पदार्थ हैं, अर्थात् यह संसार जितना कीमती है, उतनी कीमत का सोना चांदी संसार में है ही नहीं, इसलिए सोना चांदी सम्पत्ति का माध्यम हो ही नहीं सकता। संसार की सम्पत्ति की बात जाने दीजिये, अभी हाल में जितने बड़े-बड़े लेन-देन होते हैं, उनमें भी यदि नोट, चेक, हुण्डी का उपयोग न हो, केवल सोना चांदी ही ले देकर खरीदा बेचा जाय, तो एक दिन भी व्यापार न चले। इसलिए सोने चांदी को धन मानना या उससे धन की कीमत आंकना बिलकुल ही बुद्धि के विरुद्ध है। इसके सिवा जो आदमी सोने चांदी को मूल्यवान ही न समझता हो, उसके साथ तो पदार्थों का लेन-देन हो ही नहीं सकता। घोर जंगल के रहने वाले नग्न भीलों से यदि कोई सुवर्ण का टुकड़ा देकर खाने के लिए वन्य पदार्थ मांगे, तो वे कभी नहीं दे सकते। जंगलनिवासियों को जाने दीजिये, अभी गत योरोपीय युद्ध के समय खाद्य पदार्थों के कम हो जाने पर जब सर्विया के सैनिकों को भोजन के समय सुवर्ण की गिन्नियां दी गईं तो उन्होंने गिन्नियों को फेंक दिया। इस तरह से सुवर्ण न तो जंगली असभ्यों के काम की वस्तु है और न यह अन्नहीन नागरिक सभ्यों के ही काम की वस्तु है। वह तो श्रृंगारप्रिय कामियों की वस्तु है। वही उसकी कदर करते हैं। परन्तु जो कामी नहीं हैं, उनके निकट हीरा, मोती, सोना, चांदी कुछ भी मूल्य नहीं रखते। एक बार लव कुश को सुवर्ण दिया गया तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया था कि—

> वन्येन फलमूलेन निरतौ वनचारिणौ।
> सुवर्णेन हिरण्येन किं करिष्यावहे वने॥

अर्थात् हम लोग तो वन्य फलफूलों से ही निर्वाह करते हैं, हम इस सुवर्ण को लेकर क्या करेंगे? इससे ज्ञात होता कि सोना चांदी सम्पत्ति का माध्यम होने की योग्यता नहीं रखते। अभी कुछ दिन तक लोगों में लव-कुश की सी परिमार्जित बुद्धि का विकास नहीं हुआ तब तक चाहे भले भोले स्वभाव के लोग उसके मोह में फंसे रहें, पर जब संसार में सोने की अधिकता हो जायगी—खदानों और रासायनिक प्रयोग के द्वारा जब सोने की वृद्धि

हो जायगी तब उसको कोई मिट्टी के समान भी न पूछेगा। हमने कानपुर से निकलने वाले ८ दिसम्बर सन् १९२१ के 'आदर्श' पत्र में पढ़ा था कि चौदह वर्ष के अनुभव के बाद एक फ्रांसीसी रसायनशास्त्री ने पारे से सोना बना लिया है। मि० बांड नामक एक अंगरेज भी उसके साथ है। दोनों ने इस कृत्रिम सुवर्ण को आक्सफोर्ड के प्रसिद्ध रसायनशास्त्री के पास परीक्षार्थ भेजा है। वहां की रासायनिक जांच से ज्ञात हुआ है कि इसमें प्रति शतक नव्वे भाग सोना है और शेष दश भाग रेडियम तथा अन्य पदार्थ हैं। इस पर एक अर्थशास्त्री ने कहा है कि इस आविष्कार से भारत और चीन को छोड़कर शेष समस्त संसार पर आपत्ति आ जायगी, क्योंकि शेष समस्त संसार में सोने से ही क्रयविक्रय होता है।

इस घटना और अर्थशास्त्र सम्बन्धी इन विचारों से अच्छी प्रकार प्रकट हो रहा है कि सोना-चांदी या रुपया-पैसा अथवा हीरा-मोती सम्पत्ति के माध्यम नहीं हो सकते। सम्पत्ति का माध्यम तो सम्पत्ति ही हो सकती है। क्योंकि हम देखते हैं कि मनुष्य को दो मौकों पर सम्पत्ति के माध्यम की आवश्यकता होती है। एक तो ग्राम के अन्दर नित्य प्रति लेन-देन के समय और दूसरी आपत्ति के समय जब एक देश से दूसरे देश में आवश्यक पदार्थों के क्रयविक्रय की आवश्यकता होती है। ग्राम के अन्दर नित्य पदार्थविनिमय का माध्यम ग्राम के पदार्थ ही हैं, रुपया पैसा नहीं। ग्राम्य जीवन के प्रकाण्ड अर्थशास्त्री प्रो० राधाकमल मुकर्जी ग्राम्य जीवन की प्राचीन आवश्यकता के सम्बन्ध में कहते हैं कि "ग्राम का काम अब भी प्रायः ग्राम के भीतर ही चल जाता है। ग्राम आप ही आप एक आर्थिक संघ है। ग्राम के किसान ग्रामवासियों के सभी आवश्यक खाद्यान्न उत्पन्न करते हैं और लोहार किसानों के लिए फाल तथा घरू काम करने के लिए लोहे के अन्य पदार्थ तैयार करता है। वह ये चीजें लोगों को देता है और इनके बदले में उनसे रुपये पैसे नहीं पाता, किन्तु वह इनके बदले में अपने ग्रामवासियों से भिन्न-भिन्न काम लेता है। कुम्हार उसे घड़े देता है, जुलाहा कपड़े देता है और तेली तेल दे जाता है। इसी तरह अन्य कारीगर भी अन्य अन्य आवश्यक पदार्थ दे जाते हैं। ये सभी कारीगर किसानों से अनाज का वह भाग पाते हैं जो पीढ़ियों से बंधा हुआ चला आता है। इस तरह से सहकार्यनिर्वाहसम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति रुपये पैसे के बिना ही हो जाती है और गांव वालों को लेन देन के लिए

रुपये पैसे की आवश्यकता नहीं होती।" यह बात बिलकुल ही सत्य है। इस घटना से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि जब इस प्रकार की अदला-बदली गांव में हो सकती है, तो इसी तरह की अदला बदली दूर देशों के साथ भी हो सकती है। परन्तु यह तभी हो सकती है जब अदला बदली का उद्देश्य लोगों का धन हरण करना नहीं प्रत्युत प्राणियों का कष्ट दूर करना हो। आर्यसभ्यता के मूलप्रचारक भगवान् मनु वैश्य को—व्यापारी को—व्यापार का उद्देश्य समझाते हुए लिखते हैं कि—

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद् यत्नमुत्तमम्।
दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः॥ (मनु० ९।३३३)

अर्थात् वैश्य धन (भोजनादि सामग्री) को बढ़ाकर प्रयत्न से प्राणिमात्र को अन्न पहुंचावे। वैश्य को उचित है कि जो मनुष्य बर्फानी स्थानों में पड़े हुए हैं, उनको गोमेध यज्ञ के द्वारा नवीन-नवीन टापुओं की अनुर्वरा भूमि को उर्वरा बनाकर बसावे और जहां कहीं जिस पदार्थ की आवश्यकता हो, वहां वह पदार्थ पहुंचावे। इस काम के लिए अर्थात् सवारी और बारबरदारी के लिए पशुओं और नावों तथा जहाजों की आवश्यकता होती है। नावों की आवश्यकता चाहे कभी-कभी हो, पर पशु तो नित्य ही काम आते हैं। इसी-लिए आर्यव्यापार में पशुरक्षा का विशेष महत्व बतलाया गया है। वेद में लिखा है कि—

एता धियं कृणवामा सखायोऽप या मातां ऋणुत व्रजं गोः।
यया मनुर्विशिशिप्रं जिगाय यया वणिग्वङ्कुरापा पुरीषम्॥
(ऋ० ५।४५।६)

अर्थात् मित्रो! आओ गौवों के बड़े-बड़े गोष्ठ बनाने का उद्यम करें। यह उद्यम माता के समान है। इसी से मनुष्य शत्रुओं को जीत सकता है और इसी से उत्कण्ठावान् वणिक् हर प्रकार के रस को प्राप्त होते हैं। इस मन्त्र में गौवों के बड़े बड़े गोष्ठ बनाना ही उद्यम बतलाया है। गौओं के गोष्ठोंमें बड़े-बड़े बैल तैयार होते हैं, जो लाखों मन अन्न-वस्त्र एक देश से दूसरे देश में पहुँचाते हैं। इस प्रकार के पवित्र उद्देश्य से प्रेरित होकर केवल प्राणियों को अन्न पहुँचाने के लिए जो व्यापार किया जाता है, उसमें भी सोने चांदी के सिक्के की आवश्यकता नहीं होती। व्यापार में सोने चांदी का पचड़ा लगाने से तो कभी उन देशों को अन्न मिल ही नहीं सकता, जिनके पास सोना चांदी नहीं

है। इस सिद्धान्तानुसार तो यदि अरबों के पास सोना न हो, तो उनको ईरान वाले अन्न देंगे ही नहीं, चाहे भले समस्त अरबस्तान भूख से मर जाय। परन्तु जो व्यापारी अरबों की प्राणरक्षा के लिए वहां अन्न भेजेगा, वह ऐसी शर्त न लगावेगा कि हमें सोना दो तभी हम अन्न देंगे, प्रत्युत वह तो यदि वहां सूत, ऊन अथवा इमारत की लकड़ी ही पावेगा, तो लौटते समय वही लेता आवेगा और उसी में विनिमय समझ लेगा। यदि यह भी न मिलेगा, तो अपना माल दूसरे साल के लिए खजूर के बयाने में उनकी साख पर दे आवेगा। इसलिए दूर देशों के व्यापार में भी सोने चांदी के सिक्के की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

अब रही बात वर्तमान सम्पत्तिशास्त्रियों के तैयार किये हुए माल की। ये लोग कोई ऐसा माल तैयार नहीं करते, जो मनुष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक हो। खाद्य पदार्थ ये तैयार करके भेजते ही नहीं। हां, कपड़े भेजते हैं। परन्तु ये कपड़े शरीफ आदमियों के पहिनने के योग्य नहीं होते। उनसे शृङ्गार, विलास और व्यभिचार की दुर्गन्ध निकलती है। इसलिए वे उतने ही त्याग के योग्य हैं, जितना कि एक कुलवधू के लिए वेश्या की मैत्री का त्याग आवश्यक है। इन दो पदार्थों के सिवा मनुष्य के जीने के लिए संसार में और आवश्यकता ही किस वस्तु की है? इसलिए इनका तैयार किया हुआ माल अर्थ नहीं कहला सकता। वह तो अनर्थ है। और काम के बढ़ाने वाला, दूसरे देश का धन चूसने वाला और प्राणिमात्र को जीते ही जी जलानेवाला है। इसी लिए महाराज मनु ने ऐसे शिल्पियों पर राजा को कड़ी निगाह रखने की आज्ञा दी है। वे कहते हैं कि—

> असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः।
> शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः॥
> एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशांल्लोककण्टकान्।
> निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः॥ मनु० ९।२५९ ६०)

अर्थात् बुरे कर्म करनेवाले उच्च कर्मचारी, वैद्य, मारन मोहन करने वाले ठग, शिल्पी, वेश्यादिकों में रहने वाले और आर्यरूप धारण किए हुए अनार्यों पर राजा निगाह रक्खे। यहां शिल्पियों की किस प्रकार के लोगों के साथ गिनती की गई है और चोरों की तरह उनकी निगरानी करने की आज्ञा दी गई है। इसका कारण यही है कि शृङ्गार बढ़ाने वाले विलासी पदार्थ तैयार

न हों। कहने का मतलब यह कि पूंजी से सम्बन्ध रखने वाली कम्पनी की शिक्षा और शिल्पसम्बन्धी नीति नितांत अशुद्ध है।

सम्पत्ति के उत्पन्न करने वाले इस प्रधान साधन-कम्पनी को राज्यबल की भी आवश्यकता रहती है। राज्यबल से दो लाभ होते हैं। एक तो कम्पनियों को दूसरे देशों में माल खरीदने और बेचने में अपने राजा के सैनिक दबदबे के कारण किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती और दूसरे अपने राजा की सहायता से यांत्रिक कला और विज्ञान में उन्नति होती है, जिसके द्वारा श्रृङ्गार और विलास के बढ़ाने वाले पदार्थ सस्ते और शीघ्र तैयार होते हैं तथा युद्ध को सफल बनाने वाले नाना प्रकार के यन्त्र, गैस और यान भी तैयार होते हैं, जो दूसरे देशों को भयभीत किए रहते हैं। आजकल के शासन का प्रधान ध्येय यही है। इसलिए आजकल का अर्थशास्त्र राजनैतिक अर्थशास्त्र अर्थात् पोलिटिकल एकानामी कहलाता है। इस राजनैतिक सम्पत्तिशास्त्र के द्वारा मनुष्यों के जीवन श्रृङ्गार और विलासमय बनाये जाते हैं और कामुकता का प्रचार किया जाता है। जहां देखो वहीं नाना प्रकार की शराबों की दूकानें, चाय, गांजा, अफीम और चण्डू की दूकानें, सिगरेट और तम्बाकू की दूकानें, वेश्याओं की दूकानें, जुए (सट्टे) की दूकानें और कामोद्दीपक तथा व्यभिचार के बढ़ाने वाले वस्त्रों, यन्त्रों और औषधियों की दूकानें सबकी आंखों के सामने लगी हैं। सबके सामने जीवित प्राणियों के अण्डे और मांस के ढेर बिक रहे हैं, पर कोई मना करने वाला नहीं है। यह तो रोज देखने में आता है कि सादगी और समता का प्रचार करने वाले जेलों में बन्द किये जा रहे हैं, पर यह देखने में नहीं आता कि जिन वेश्याओं ने अपने जहर (गर्मी, सूजाक) से लाखों मनुष्यों को सड़ाकर कोढ़ी बना दिया है अथवा जिन दुराचारी पुरुषों ने लाखों निरपराध गृहदेवियों को इसी जहर से सड़ा डाला है, उन पर एक रुपया जुर्माना भी हुआ हो। यह दशा किसी एक ही देश या जाति की नहीं है, प्रत्युत सारी पृथिवी की शासनप्रणाली आजकल प्रायः इसी ढग की हो रही है। इसका कारण यही है कि आजकल शासन और व्यापार का उद्देश्य उत्तम मनुष्य बनाना और उन्हें भूख से बचाना नहीं है, किन्तु सबको विलासी बना कर संसार का सुवर्ण अपने पास जमा करना है और दूसरों को गुलाम बनाना है।

इसलिए न तो यह सम्पत्ति शुभ कामना वाली ही है और न इस प्रकार

की राज्य प्रणाली ही उत्तम है। ऐसी राज्यप्रणाली से तो वह प्रजा लाख दर्जे अच्छी है, जो विना राजा के है। समुद्र के अनेक टापुओं में जहां विना राजा के मनुष्य बसते हैं, जंगली दशा में भी सुख की नींद सोते हैं। इन्हें यह खौफ नहीं है कि सवेरा होते ही हमें तोप के मुंह लड़ना पड़ेगा अथवा कल हमारा शहर उड़ाया जायगा—बम्बार्डमेंट किया जायगा। इन्हें यह तो चिन्ता नहीं है कि जब तक मिल (पुतलीघर) न खोली जायं और बैंकों की प्रतिष्ठा न हो तब तक हमारा जीवन व्यर्थ है? इन्हें किसी देश की उत्तम दशा पर ईर्ष्या और डाह तो नहीं है? वे मनुष्य जैसे प्राणी के नाश करने का उपाय तो नहीं सोचते? इसलिए जिन राज्यों में शान्ति नहीं, सुख नहीं, मनुष्यों के प्रति दया नहीं, परस्पर प्रेम नहीं और सहानुभूति नहीं उन राज्यों से तो किसी रेतीले मैदान में बालू खाकर रहना अच्छा है। सैकड़ों स्थान पृथिवी पर अब तक ऐसे हैं जहां लोग राजा का नाम तक नहीं जानते, पर क्या वहां के लोग पूर्ण आयु नहीं जीते? अवश्य जीते हैं। राज्यहीन जितने जंगली मनुष्य हैं, वे वहां की प्रजा से अधिक दीर्घायु बलवान् और प्रसन्नवदन होते हैं, जहां राज्यशासन प्रचलित है।

ऐसी प्रचलित राज्यशासन प्रणाली में अधूरी आयु जीने वाले नागरिक सिवा अस्पतालों की दवा पी पाकर आधी आयु जीने के और क्या किये लेते हैं और बड़े बड़े महलों में तकिया गद्दी पर कराह-कराह कर आधी नींद सोने के सिवा और क्या बनाये लेते हैं? इसलिए हम कहते हैं कि राज्यशासन-प्रणाली वही ठीक है, जिसका उद्देश्य मानव जीवन को शान्ति देने वाला हो। परन्तु उपर्युक्त राजनैतिक अर्थशास्त्र के कारण राष्ट्र में एक भी व्यक्ति शान्ति से एक दिन भी नहीं बैठ सकता। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे राज्यों से बचने के लिए अथवा उनसे बाजी मारने के लिए व्यग्र रहता है। एक विज्ञानवेत्ता से लेकर साधारण कुली पर्यन्त इसी व्यथा से पीड़ित रहता है और इसी के कारण संसार में कहीं न कहीं युद्ध की आग धधका करती है। अतः इस प्रकार की शासनप्रणाली से संसार में कभी सुख, शान्ति नहीं मिल सकती। जहां वैर विरोध है, वहां चैन कहां हो सकता है। वह मनुष्य सुख की नींद कैसे सो सकता है, जिसने अनेकों शत्रु बना रक्खे हैं और वह मनुष्य शान्त कैसे हो सकता है, जिसने अपने जीवन को कलहमय बना रक्खा है। इसलिए इस शासनप्रणाली को छोड़कर देखना चाहिए कि वैदिक शासनप्रणाली के अनुसार राजा की क्या आवश्यकता है?

संसार में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं—एक विद्वान्, दूसरे मूर्ख। विद्वानों के लिए राज्यशासन की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि विद्वान् कभी शारीरिक शासन से—सजा जुर्माना से—काबू में नहीं आ सकते। वे अपने ज्ञानचातुर्य से राजा के दबदबे को ढीला कर देते हैं, इसलिए राज्यशासन उन्हीं मूर्ख और उद्दण्ड मनुष्यों के लिये है. जो अत्याचारी हैं और जिनके पाप कर्मों को सब लोक देख सकते हैं। उन्हीं के दमन करने की आवश्यकता भी है और उन्हीं का दमन हो भी सकता है। किन्तु जो विद्वान् हैं और आप बुद्धि-कौशल से पाप कर्म कर रहे हैं, उनका दमन राजा नहीं कर सकता। इसलिए राजा की आवश्यकता केवल उद्दण्ड, मूर्ख और अत्याचारी, राक्षसों पर ही शासन करने के लिए है। इसीलिए मनुस्मृति में कहा गया है कि—

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्॥

अर्थात् जिस राजा के राज्य में चोर, व्यभिचारी, दुष्ट वाक्य बोलने वाला, साहसी और दण्ड का न मानने वाला नहीं होता, वही राजा इन्द्र के समान राज्य करता है। आर्य राज्य का यह काल्पनिक आदर्श नहीं है प्रत्युत राजा अश्वपति कहते हैं—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥(छांदोग्य उपनिषद्)

अर्थात् मेरे राज्य में न चोर हैं, न कायर हैं, न मद्यपान करने वाले हैं, न अग्निहोत्र न करने वाले हैं, न मूर्ख हैं, न व्यभिचारी हैं। और न व्यभिचारिणी हैं। यही यथार्थ शासन का आदर्श है। इसी प्रकार के शासन से दुष्ट मनुष्यों का दमन होता है। श्रृङ्गारप्रिय और विलासी मनुष्य ही प्रायः शराबी और व्यभिचारी होते हैं। यही कारण है कि आर्यसमाज ने विलास और कामुकता की जड़ नशा और व्यभिचार को ही करार दिया है। किन्तु आज हम देख रहे हैं कि राजनैतिक सम्पत्ति बढ़ाने के लिए राज्य शासन के दबदबे से शराब और वेश्याओं की वृद्धि करने वाले श्रृङ्गारिक पदार्थों का प्रचार किया जा रहा है, इसलिए सम्पत्ति उत्पन्न करने वाला राज्यबल रूपी साधन भी मनुष्य-स्वभाव के विरुद्ध ही है। यह मनुष्यजाति को सुख देनेवाला नहीं प्रत्युत कामी बना कर अकाल मृत्यु के मुख में ले जाने वाला है।

अब रही बात सम्पत्ति बढ़ाने में सहायता देने वाली तीसरी वस्तु जाती-

यता की। जातीयता को अंगरेजी में नेशनेलिटी कहते हैं। यह लोगों को युद्धों में मरने और दूसरों को मारने के लिए तैयार करती है। यह न हो, तो कोई मनुष्य युद्ध में मरने के लिए तैयार ही न किया जाय। जातीयता के भाव से प्रेरित होकर ही एक प्रजा दूसरी प्रजा के साथ युद्ध करने के लिए तैयार होती है और जो युद्ध इस प्रकार की भावना वाली प्रजा के द्वारा होते है, उन युद्धों में प्रायः विजय ही होती है। इसीलिए राजनैतिक व्यापार में युद्ध की सहायक इस जातीयता की आवश्यकता होती है। परन्तु यह जातीयता भी मनुष्य-स्वभाव और सृष्टि नियम के विरुद्ध ही है। क्योंकि समस्त संसार के मनुष्य एक ही वंश और एक ही जाति के हैं। इसलिए इस एक जाति को कल्पना-भेद से अनेक जातियों में बांट कर कलह पैदा करना उचित नहीं है। जातीयता वाले जो कहते हैं कि जिसका एक धर्म, एक भाषा, एक रंग रूप और एक राजा हो वह जाति है पर यह ठीक नहीं है। इस लक्षण में दोष है। हम देखते हैं कि रूस में कई धर्म, कई भाषा और कई रङ्गरूप के आदमी हैं, पर वे सब एक ही जाति में संगठित हैं। इसी तरह अन्य जातियों में भी अनेक प्रकार के विषम भेद मौजूद हैं। इसलिए यह जाति का लक्षण ठीक नहीं है। हां, जाति का यह एक लक्षण ठीक प्रतीत होता है कि समान स्वत्व प्राप्त एक शासन में आबद्ध जनता एक जाति है, किन्तु यह लक्षण भी दोषपूर्ण है। भारतवर्ष में हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध और ईसाई सभी समान स्वत्व प्राप्त एक शासन में आबद्ध हैं पर इतना होने पर भी इंगलैंड के शासक कहते है कि भारतवर्ष में एक जाति अथवा एक ही जातीयता—नेशनेलिटी नहीं है। कहने का मतलब यह कि जाति से सम्बन्ध रखने वाले जितने लक्षण किये गये हैं वे सब कृत्रिम और अस्तव्यस्त हैं। जाति का सब से उत्तम लक्षण तो 'समान-प्रसवात्मिका जातिः' है। जिसका तात्पर्य यही है कि समान प्रसव अर्थात् जिस नर और नारी से सन्तान उत्पन्न हो वही जाति है। संसार के समस्त नर नारी परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध से सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं, अतएव संसार के समस्त मनुष्यों की एक ही जाति है।

अतः इस सृष्टि नियम और प्रत्यक्ष लक्षण के होते हुए एक जाति में अनेक जाति की कल्पना करके परस्पर के रागद्वेष से संसार को अशान्त करना उचित नहीं है। बड़े-बड़े विचारशील विद्वानों का विश्वास है कि संसार की अशान्ति का कारण जातीयता ही है। इस जातीयता के ही कारण दूसरी जाति

के मनुष्य मिट्टी और कंकड़ के बराबर समझे जाते हैं और इस जातीयता के ही कारण खण्ड राज्यों की जड़ जमी हुई है। यदि संसार में जातीयता का झगड़ा मिट जाय, तो खण्ड राज्यों का सिलसिला एक क्षण में मिट जाय और आर्यसभ्यता वाला आदर्शराज्य—चक्रवर्ती सार्वभौम-राज्य स्थापित हो जाय और स्वजाति अभिमान और परजाति अपमान का बीज संसार से लुप्त हो जाय। क्योंकि जिसमें स्वजाति अभिमान होता है, उसमें विजाति अपमान के अंकुर स्वभावतः होते ही हैं और विजाति अपमान में स्वजाति पक्षपात का होना स्वाभाविक ही है। यही रागद्वेष की जड़ है, यही स्पर्धा—कम्पिटीशन—की जननी है, यही यन्त्रों की उत्तेजक है और यही भयङ्कर युद्धों की आग सुलगाने वाली है। इसलिये जहां तक हो जातीयता का शीघ्र नाश होना चाहिये। आर्यसभ्यता न जाने कब से 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' का पाठ पढ़ाती है और बतलाती है कि उदार पुरुषों के निकट तो समस्त संसार एक ही कुटुम्ब के समान है। यही कारण है कि प्राचीन समय के आर्यों में इस प्रकार की जातीयता न थी। वे भले और बुरों की दो ही जातियां मानते थे, जिन्हें आर्य और दस्यु कहते थे। आर्य अच्छों का और दस्यु बुरों का नाम था। किन्तु बुरे सदैव बुरे ही नहीं रहते थे। समय पाकर शिक्षा के द्वारा वे भी आर्य हो जाते थे और अशिक्षित तथा असंस्कारी रह जाने से आर्य भी दस्यु हो जाते थे। कहने का मतलब यह कि आर्यकाल में कभी जातियों की इस प्रकार पृथक्-पृथक् संगठन नहीं हुआ था, क्योंकि आर्य लोग जातीयता की बुराई को जानते थे। वे समझते थे कि जातीयता मनुष्यों में सब से पहिले अन्याय पैदा कराती है। वह अपनी जाति का अनुचित पक्षपात कराती है और विजाति पर अनुचित अत्याचार करने के लिए तैयार करा देती है। इससे अभिमान की सृष्टि होती है और दूसरों का अपमान करने की सूझती है। इसलिए यह सर्वदा त्याग के ही योग्य है। इसके त्याग का सब से उत्तम उपाय यह है कि समस्त मनुष्य एक ही राज्यशासन की प्रजा बन जावें। यद्यपि सादे और समान जीवन से भी परस्पर का द्वेषभाव छूट जाता है, विवाह सम्बन्ध भी पारस्परिक द्वेष को नष्ट कर देता है, एक भाषा और एक धर्म भी इसके हटाने में सहायक होते हैं और इसी प्रकार की प्रायः सभी ऐक्यताओं का प्रचार करने से सारा अनैक्य दूर हो सकता है तथापि समस्त मनुष्यजाति को एक राजा की प्रजा हो जाना सब एकताओं का मूल है। इसी के स्वीकार करने से

उपर्युक्त समस्त ऐश्वर्यताएं आपसे आप उत्पन्न हो जाती हैं। इसीलिए वेदों में चक्रवर्ती राज्य के लिए अनेकों प्रार्थनाएं की गई हैं। ये प्रार्थनाएं केवल जगत में शान्ति स्थापित करने के ही लिये हैं।

क्योंकि मनुष्य समाज कभी शान्त नहीं रह सकता जब तक कि वह एक ही राजा की प्रजा न हो जाय। जहां देशभेद है, जहां खानदानभेद है, जहां धर्म, भाषा और रक्त का भेद है, वहां कभी शान्ति रह ही नहीं सकती। किन्तु सार्वभौम एक राज्य की स्थापना से ही सारे विरोध दूर हो जाते हैं। प्राचीन काल में जब तक आर्य राजा पृथिवी में सार्वभौम राज्य करते रहे तब तक परस्पर सहानुभूति रही और समस्त मनुष्य एक दूसरे को मित्र समझते रहे, किन्तु आर्य राज्य के नष्ट होते ही समस्त मनुष्यजाति कलह पीड़ित हो गई। इसीलिए वेद में सार्वभौम राज्य से ही सुख बतलाया गया है। यजुर्वेद ५।२४ में लिखा है कि 'स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा' अर्थात् स्वराज्य शत्रु का नाशक है, सत्र राज्य दुःखों का नाशक है, जनराज्य राजा का नाशक है और सर्वराज्य अमित्र का नाशक है। यहां स्पष्ट कहा गया है कि सर्वराज्य से अमित्र–शत्रु–उत्पन्न नहीं होते। जब कोई अमित्र ही नहीं है—सब मित्र ही मित्र हैं—तो दुःखों का कहीं पता नहीं लग सकता। इसलिए खण्ड राज्यों की घृणित जातीयता से उत्पन्न हुआ राजनैतिक सम्पत्ति शास्त्र नितान्त अशुद्ध है।

यहां तक हमने वर्तमान राजनैतिक सम्पत्ति शास्त्र के समस्त विभागों और उपविभागों की आलोचना करके देखा। इस आलोचना से स्पष्ट सूचित हो रहा है कि यह सम्पत्तिशास्त्र नहीं किन्तु कामशास्त्र है और अर्थशास्त्र नहीं किन्तु अनर्थशास्त्र है अर्थ और सम्पत्ति का प्रधान विषय तो भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी ही होना चाहिये जिसका केवल शरीर रक्षा से सम्बन्ध है। किन्तु इस राजनैतिक सम्पत्तिशास्त्र का उद्देश्य काम्य पदार्थों का प्रचार करना है जिससे मनुष्य की मानसिक शक्ति दूषित होती है और मनुष्य हर प्रकार से पतित हो जाता है। इसलिए यह कामशास्त्र अर्थशास्त्र कहलाने का पात्र नहीं है।

आज संसार में काम्य पदार्थों की वृद्धि के कारण साधारण मनुष्यों के मन बिलकुल ही निर्बल हो गये हैं और बिना गरीबी के ही वे अपने को गरीब मानने लगे हैं। उनके घर खाने को अन्न है, पीने को दूध है, पहिनने को साड़ी

धोती है और रहने के लिए मकान भी है, परन्तु सोडावाटर, सिगरेट, चाय और शराब के अभाव से वे अपने को गरीब मान रहे हैं। विना कलाबत्तूदार साफे के और विना काश्मीरी शाल के वे अपने को गरीब मान रहे हैं। विना ट्रङ्क के, विना कांच के गिलास और लैम्प के तथा विना अन्य इसी प्रकार की व्यर्थ चीजों के वे अपने को गरीब मान रहे हैं।

ऐसी दशा में यह कहे विना रहा नहीं जाता कि अर्थ के नाम से अनर्थ अर्थात् काम्य पदार्थों को सामने लाकर सीधे सादे भद्र मनुष्यों को गरीबी और कंगाली के काल्पनिक और मिथ्या संताप का शिकार बना दिया गया है। जहां देखो वहां लोग शोभा शृङ्गार और विलास के बढ़ाने वाले पदार्थों के खरीदने में अपनी गाढ़ी कमाई नष्ट कर रहे हैं और फिर भी अपने को गरीब मान रहे हैं। अतः इस पादपरम्परा के सब से बड़े गुनाहगार वे हैं, जो इनको तैयार करके बाजारों में बेचते हैं और उनसे भी बड़े गुनहगार वे हैं, जो इनको खरीद कर उपयोग में लाते हैं और दूसरे लोगों को ललचाते तथा उनको भी यह जहर खरीदने के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रकार इन सब में सब से बड़ा अपराधी पड़ोसी ही ठहरता है जो दूसरे पड़ोसी पर इस जहर का असर डालता है। इसलिए कहना पड़ता है कि मनुष्यों की चिन्ता का अधिकांश भाग काल्पनिक है। वे अपनी मिथ्या कल्पना और मूर्खता से ही दुखी हो रहे हैं। पड़ोसी का सा हमारे पास मकान नहीं है, उसका सा जेवर और वस्त्र नहीं है, उसकी सी सवारी और नौकर नहीं हैं और उसका सा हमारा साज सामान नहीं है, इस प्रकार की कल्पनापूर्ण असमानता से बढ़ी हुई रुचि के मिथ्या स्वप्न से मनुष्य रातदिन बेताब और दुःखी हो रहे हैं। एक मनुष्य चाहे जितना धन प्राप्त कर ले, पर वह अपने से बड़े पड़ोसी का आदर्श सामने लाकर और उसके साथ बाजी मारने की धुन में सब आमदनी बनाव चुनाव में ही खर्च कर देता है और फिर भी अपने को गरीब ही समझता रहता है। यही काल्पनिक दुःख है

इस काल्पनिक दुःख के अतिरिक्त रिवाजों का दुःख और है, जो इससे भी अधिक भयंकर है। कल लड़के का मुण्डन है, यज्ञोपवीत है, ब्याह है अथवा श्राद्ध करना है या गया और जगन्नाथ आदि का ब्रह्मभोज करना है और इसमें भी पड़ोसी से आगे दौड़ लगाना है। ये रिवाजी दुःख हैं, जो काल्पनिक दुःखों के साथ मिलकर मनुष्य को जिन्दा ही जला डालते हैं। काल्पनिक और रिवाजी दुःखों के अतिरिक्त आदती दुःख और हैं जो इन दोनों से भी दुःखदायी हैं।

रोज हलवा और मलाई खाने की आदत है, क्योंकि अफीम खाते हैं। अगर रात को जरा सी शराब न पीलें तो सुबह दस्त ही साफ न हो। बगैर गाना सुने, विना मेला ठेला देखे और विना थियेटरसिनेमा की सैर किये दिल ही नहीं मानता—तबीयत ही नहीं लगती ये आदती दुःख हैं। इन प्रकार से ये सभी दु ख बुरी संगत और देखने दिखाने से उत्पन्न होते हैं। इन देखने और दिखलाने वाले फिजूलखर्चों में ही बेहिसाब दौलत नष्ट होती है और मन का पतन होता है और उनकी चिन्ता, मन की गिरावट और तन की बरबादी से मनुष्य तथा मनुष्यसमाज का नाश हो जाता है—उसका लोक परलोक बिगड़ जाता है। इसलिये जहां तक हो इस अनर्थकारी और श्रृङ्गारमयी काम्य सामग्री को कभी आंख से भी न देखना चाहिये। क्योंकि इस कामुकता और श्रृङ्गार-प्रियता ने बनाव-चुनाव, शोभा-श्रृङ्गार और ठाट-बाट के काल्पनिक आडम्बर के द्वारा मनुष्यों में असमानता और ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न करा दिया है, कामजात यंत्रों ने पशुओं को निकम्मा बनाकर उन्हें कत्लखानों की ओर बढ़ा दिया है और श्रृङ्गारोत्पादक–रुई, पाट, चाह और तम्बाकू आदि की खेती ने जंगलों का नाश कर दिया है और खड़ी, आड़ी तथा उलटी सृष्टि के तीनों विभागों में भयंकर क्षोभ उत्पन्न कर दिया है। खड़े शरीरवाले मनुष्य की निम्न श्रेणी ने अनारकिज्म उत्पन्न कर दिया है और चारों ओर साम्यवादजात युद्ध का भीषण हुंकार सुनाई पड़ता है। इसी तरह आड़े शरीर वाले पशुओं की निम्न श्रेणी-कृमियों–ने भी अनारकिज्म उत्पन्न कर दिया है और हैजा, प्लेग, इन्फ्लुएंजा तथा लाखों बीमारियों के जर्म्स बनकर विलासी और नागरिक मनुष्यों का संहार करना शुरू कर दिया है।

जिस प्रकार इन दोनों विभागों ने विलासी मनुष्यों के संहार का आरंभ कर दिया है, उसी प्रकार वृक्षों ने भी भयंकर अनारकिज्म आरंभ कर दिया है। हम रोज अखबारों में पढ़ते हैं, कि जंगलों में मनुष्यों और पशुओं को पकड़ पकड़कर खा जाने वाले वृक्षों की वृद्धि हो रही है। अतएव स्पष्ट लक्षण दिखलाई पड़ रहे हैं कि यदि मनुष्यों ने शीघ्र ही विलासमय जीवन का परित्याग करके सादा, तपस्वी और ब्रह्मचारी जीवन बनाना आरंभ न कर दिया, तो वह दिन दूर नहीं है जब यह समस्त कामी जनसमाज साधारण लोगों और साधारण कृमियों के द्वारा नष्ट हो जायगा, सर्वभक्षी वृक्षों के द्वारा जंगलों में कोई जा न सकेगा और एकबार इस वर्तमान उपद्रवी सृष्टिका संहार हो जायगा। इसलिए समस्त

मनुष्यों को उचित है कि वे काम्य पदार्थों का मोह छोड़ कर सादे सीधे आर्य-जीवन के द्वारा अर्थ, काम और मोक्ष में सामञ्जस्य उत्पन्न करने वाले वैदिक धर्म को स्वीकार करें और आर्य सभ्यता के अनुसार व्यवहार आरंभ करें, जिस से संसार के प्राणिमात्र का कल्याण हो और समस्त दुःखों का नाश हो जाय।

धर्म की प्रधानता

धर्म बुद्धि अर्थात् विद्या और ज्ञान का विषय है, इसलिए आर्यसभ्यता के चारों महान् स्तम्भों में इसका स्थान बहुत ऊंचा है। जिसप्रकार मोक्ष मर्यादित अर्थ के अधीन है और मर्यादित अर्थ काम के अधीन है, उसी तरह काम को मर्यादित करके उसको अर्थ और मोक्ष के अनुकूल बनाना धर्म के ही अधीन है। धर्म ही ऐसा है जो निरंकुश काम को मर्यादित करके मोक्ष और अर्थकाम के मध्य में सामञ्जस्य उत्पन्न करा सकता है और धर्म ही ऐसा है, जो अच्छी तरह बतला देता है कि धर्मपूर्वक अर्थ और काम का उपयोग करने से ही मोक्ष सुलभ हो जाता है और धर्मपूर्वक मोक्ष का अनुष्ठान करने से ही अर्थकाम के ग्रहण करने में सुविधा हो सकती है। अर्थात धर्मानुसार जीवन बनाने से ही लोक और परलोक दोनों में सुख प्राप्त हो सकता है। इसीलिए धर्म का लक्षण करते हुए वैशेषिक दर्शन में कणाद मुनि कहते हैं कि 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धि स धर्मः' अर्थात् जिससे अर्थकामसम्बन्धी लोकसुख की और मोक्ष-सम्बन्धी परलोकसुख की सिद्धि हो वही धर्म है। धर्म का यह लक्षण बहुत ही व्यापक है। परन्तु इस सूत्र में आये हुए अभ्युदय शब्द से यह न समझ लेना चाहिये कि इस शब्द का तात्पर्य लोक का वर्तमान नागरिक ऐश्वर्य है। यहां अभ्युदय से तात्पर्य केवल उतने ही अर्थ और काम से है कि जितने के ग्रहण करने से शरीरयात्रा और मनस्तुष्टि का निर्वाह हो जाय और अर्थकाम में आसक्ति उत्पन्न न हो। मनु भगवान् स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि--

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

अर्थात जो लोग अर्थ और काम में असक्त हैं-फंसे नहीं हैं-यह धर्मज्ञान उन्हीं के लिये कहा गया है और इस धर्मज्ञान की इच्छा करने वालों के लिए वेद ही परम प्रमाण है। यहां स्पष्ट हो गया कि अभ्युदय का तात्पर्य लोक-निर्वाहमात्र ही है और लोकनिर्वाहमात्र ही वेदानुकूल धर्म की मीमांसा करते

हुए जैमिनि मुनि मीमांसादर्शन में कहते हैं कि 'चोदनालक्षणो अर्थो धर्मः' अर्थात् वेद की आज्ञा ही धर्म है। आर्यों ने अपने धर्म और सभ्यता को वेद की शिक्षा के अनुसार ही स्थिर किया है, इसलिए धर्मपूर्वक अभ्युदय का यही अभिप्राय है कि संसार से उतना ही अर्थ काम लिया जाय, जिससे मोक्ष को सहायता मिले। यही धर्म का लक्षण है। इसी धर्म के लिए वेदव्यास कहते हैं कि—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष नहि कश्चित् शृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ॥ (महाभारत)

अर्थात् मैं हाथ उठाकर चिल्ला रहा हूँ कि अर्थ और काम को धर्मपूर्वक ही ग्रहण करने में कल्याण है, पर इसे कोई नहीं सुनता। कहने का मतलब यह कि धर्म वह नियम है, जिसके अनुसार व्यवहार करने से लोक और परलोक दोनों में सामञ्जस्य उत्पन्न हो जाता है और अर्थ, काम और मोक्ष सरलता से मिल जाते हैं। किन्तु धर्म का नाम सुनकर प्रायः आधुनिक विद्वान् नाक-भौं चढ़ाने लगते हैं। वे कहते हैं कि इस पुराने खूसट (धर्म) को इस नई रोशनी के जमाने में कहां लिए फिरते हो। देखो समस्त वैज्ञानिक जगत् धर्म की संकीर्णता से निकलकर नवीन विचारों की शीतल छाया में आ रहा है, देखो रूस राज्य से सदैव के लिये धर्म का नाम विदा कर दिया गया है और देखो धार्मिक मनुष्यों की कैसी दुर्दशा हो रही है। ऐसी दशा में फिर उसी धर्म का नाम लेकर सुलझे हुए विचारों में उलझन पैदा करना अच्छा नहीं है। हम कहते हैं कि बिलकुल सत्य है। धर्म ऐसी ही रद्दी चीज है, अतएव उसका नाम लेना उचित नहीं है। किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि हम जिस धर्म का जिक्र करना चाहते हैं, यह वह धर्म नहीं है, जिसको नवीन मस्तिष्कों ने निकम्मा समझ कर बाहर कर दिया है, प्रत्युत यह वह धर्म है जिसके बिना प्राकृतिक विज्ञान और राजनीति के विचार एक कदम भी आगे नहीं चल सकते। हमें दुःख है कि आजकल सम्प्रदायों और मतमतान्तरों ने धर्म शब्द की बहुत बड़ी बदनामी कर रक्खी है, परन्तु वास्तव में धर्म शब्द का अर्थ संप्रदाय अथवा मतमतान्तर नहीं है। धर्म शब्द का अर्थ तो वे नियम हैं, जिनके अनुसार व्यवहार करने से लोक और परलोक दोनों सुधर जायं। लोक सुधरने का यही अभिप्राय है कि आवश्यकता के अनुसार संसार से इतना ही अर्थ और काम ग्रहण किया जाय, जिससे अपनी आयु के लिए भोग मिल जांय और किसी

प्राणी की आयु और भोगों में कमी उत्पन्न न हो और परलोक सुधरने का यही अभिप्राय है कि सृष्टि के कारणों का ज्ञान उत्पन्न हो जाय, जिससे धर्म और काम का निर्णय हो सके और सृष्टि के कारणों के भी कारण परमात्मा के साक्षात् से जन्ममरण का चक्कर छूट जाय और मोक्ष मिल जाय। आर्यधर्म का यही तात्पर्य है। क्या कोई भी विज्ञानवेत्ता सृष्टि के कारणों के जानने की जिज्ञासा को कभी एक क्षण के लिए भी बन्द कर सकता है और क्या सृष्टि के कार्य-कारणभाव की जांच का ही नाम साइन्स नहीं है ? साथ ही क्या कोई भी राज-नीतिज्ञ एक क्षणके लिएभी अपने पास से इस विचार को जुदा कर सकता है कि किसप्रकार अर्थ और कामका बटवारा किया जाय और किसप्रकार मनुष्य अपनी रहन-सहन बनावे ? यदि साइन्स और राजनीति के अन्दर ये दोनों बातें अपना विशेष स्थान रखती हैं, तो आर्यधर्म का मोक्षप्रकरण जिसमें सृष्टि के कारणों का जानना आवश्यक है और आर्यधर्म का अर्थकाम प्रकरण जिसमें प्राणियोंके भोगों का बटवारा करना आवश्यक है, कैसे विज्ञान और राजनीति के विपरीत होसकता है और कैसे कोई भी समझदार व्यक्ति या समाज इससे उदासीन रह सकता है ? वैदिक धर्म वह धर्म है, जिसमें समझदार और विद्वान् मनुष्य उदासीन रह नहीं सकते। यही कारण है कि आर्यों ने वेदों की आज्ञानुसार धर्म को बहुत बड़ा महत्व दिया है और अर्थ, काम और मोक्ष को उसी के अधीन रक्खा है। वेदों में मोक्ष और अर्थ-काम का सामञ्जस्य करते हुए उपदेश दिया गया है कि—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

अर्थात् जो अंधकार—अज्ञान—का नाश करनेवाला प्रकाशस्वरूप सृष्टि का कर्ता परमेश्वर है, उसी के जानने से मोक्ष मिलता है और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इस समस्त जगत् में वह हर जगह उपस्थित है इसलिए उसने सबको देकर जो तुम्हारे लिए निश्चित किया है, उसी पर बसर करो—दूसरे के हकों को मत लो। यदि सारी आयु इसी प्रकार कर्म करतेहुए जीने की इच्छा करोगे तो निश्चय ही मोक्ष हो जायगा, इसके अतिरिक्त और कोई दूसरी सूरत नहीं है।

उपर्युक्त मंत्रों में दोनों ही बातें बतला दी गई हैं। पहिले मंत्र में बतला दिया गया है कि संसार के कारणरूप परमात्मा के जानने से ही मोक्ष हो सकता है, दूसरी सूरत नहीं और दूसरे दो मंत्रों में बतला दिया गया है कि अपनी यात्रा-मात्र ही के हिसाब से अर्थ काम का ग्रहण करो, इसी से मोक्ष हो सकता है, दूसरी सूरत नहीं है। अर्थात् अर्थ, काम और मोक्ष को धर्मानुसार ही ग्रहण करने से मानवजीवन, मानवसमाज और प्राणिसमूह का कल्याण हो सकता है धर्म के विपरीत आचरण से नहीं।

इस वैदिक आर्यधर्म के दो विभाग हैं—शुद्ध धर्म और आपद्धर्म। शुद्ध धर्म की इमारत आश्रमव्यवस्था की नींव पर और आपद्धर्म की इमारत वर्ण-व्यवस्था की नींव पर स्थिर है। जिस समय आश्रमों की सुव्यवस्था होती है—समस्त समाज आश्रमधर्म का पालन करता है, उस समय सर्वत्र शुद्ध धर्म का ही व्यवहार होता है, पर जिस समय लोग आश्रम व्यवस्था से स्वयं विचलित हो जाते हैं या कोई दूसरा उन आश्रमियों को सताकर विचलित करना चाहता है, तो उस समय आपद्धर्म का व्यवहार होता है और वर्णव्यवस्था की प्रधानता हो जाती है। आश्रम व्यवस्था के सबसे बड़े व्यवस्थापक का नाम परिव्राट् है और वर्ण व्यवस्था के सबसे बड़े व्यवस्थापक का नाम सम्राट् है। परिव्राट् का काम शुद्ध धर्म की व्यवस्था करना है और सम्राट का काम आपद्धर्म की व्यवस्था करना है। जब शुद्ध धर्म की स्थिरता होती है तब आश्रमों का प्राबल्य हो जाता है और समस्त वर्ण वर्णोचित कामों के न होने से जन्मना स्थिर होकर प्रभाहीन हो जाते हैं। किन्तु जब आपद्धर्म की व्यवस्था होती है तब समस्त आश्रम प्रभाहीन हो जाते हैं और वर्णों का प्राबल्य हो जाता है तथा समस्त वर्ण अपने-अपने गुणकर्मस्वभावानुसार अपने अपने काम में लग जाते हैं। शुद्ध धर्म के समय में समाज को न सैनिकों की आवश्यकता होती है, न व्यापारियों की आवश्यकता होती है और न शूद्रों की आवश्यकता होती है। उस समय इन तीनों वर्णों का एक प्रकार से तिरोभाव हो जाता है और तीनों वर्ण ब्राह्मण होकर चारों आश्रमों में विभक्त हो जाते हैं और एक ही प्रकार के धार्मिक मनुष्यों का समाज बन जाता है, जो वेदों के आदेशानुसार धर्मपूर्वक अर्थ और काम को ग्रहण करता हुआ ब्रह्मप्राप्ति में लगा रहता है। इसी ब्रह्मनिष्ठ समाज को ब्राह्मण कहा गया है। भारतवर्ष में इस प्रकार का एक ज़माना रह चुका है जब शुद्ध धर्म का ही व्यवहार होता था और

सब लोग ब्राह्मण ही कहलाते थे। महाभारत में लिखा है कि 'सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्' अर्थात् एक समय समस्त संसार में ब्राह्मण ही ब्राह्मण थे। उस समय राजन्य आदि वर्णों का तिरोभाव था। महाभारत में ही लिखा है कि—

न वै राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिक:।
धर्मेणैव प्रजा: सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥

अर्थात् उस समय न कोई राज्य था, न राजा था और न कोई दण्ड था, न दण्ड पाने वाले पापी ही थे। उस समय तो समस्त प्रजा परस्पर धर्म से ही अपनी रक्षा करती थी। ऐसे धार्मिक समय में मनुष्य अर्थ, काम में आसक्त नहीं होते और मनु के आदेशानुसार 'शूद्रो ब्राह्मणतामेति' अर्थात शूद्र भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो जाते हैं। यही कारण है कि उस समय किसी प्रकार का कलह भी नहीं होता और न राजा आदि की आवश्यकता ही होती है। इसीलिए धर्म को राजों का भी राजा कहा गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।१४ में लिखा है कि 'तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्ति' अर्थात धर्म राजा का भी राजा है, इससे बड़ा और कुछ नहीं है। धर्म की इतनी बड़ाई का कारण यही है कि यह बुद्धि का पोषक और विद्या तथा ज्ञान का बढ़ाने वाला है। बुद्धि का पोषक होने ही से यह पापों को उत्पन्न नहीं होने देता। क्योंकि पाप का सूक्ष्म बीज तो पहिले मन में ही उत्पन्न होता है। इसीलिए मनु महाराज कहते हैं कि 'मन: सत्येन शुध्यति' अर्थात् मन सत्य से ही शुद्ध होता है। सत्यासत्य का निर्णय करना बुद्धि, विद्या और ज्ञानपोषक धर्म का ही काम है। इसीलिए कहा गया है कि जहां धर्म है, वहां पाप हो ही नहीं सकता। किन्तु जहां धर्म नहीं है केवल राज्य शासन से ही मनुष्यों का सुधार किया जाता है, वहां कुछ भी असर नहीं होता। आज राज्यशासनों ने अपराधों के रोकने के लिए जितने उपाय किये हैं, उन सबसे बदमाशों ने फायदा ही उठाया है। खतरे के समय रेलगाड़ी रोकने के लिए जो जंजीर थी उसको खींच कर डाकुओं ने अनेक बार जंगलों में गाड़ियों को खड़ा करके लूटा है। जो पुलीस चोरों को पकड़ने के लिए नियुक्त हुई है वह चोरों के साथ मेल जोल रखने के कारण अनेक बार बदनाम हो चुकी है और अनेक पुलीसमैन जेलखाने भेजे जा चुके हैं। कहां तक गिनावें आजकल के जेलखानों में कैदियों की भीड़ें, मुकदमेबाजों की भीड़ें, रण्डीबाजी, शराबखोरी, जुआ, चोरी, ठगाई की अधिकता बता रही है कि [illegible] राज्यप्रबन्ध किसी काम

का नहीं होता। इसका कारण यही है कि राज्य शासन लोगों के मानसिक विचारों को पवित्र नहीं कर सकता। वह तो शरीर से किये गये स्थूल पापों को ही देखता है और शरीर को ही दण्ड देता है, परन्तु पाप पहले मन में उत्पन्न होते हैं, इसलिए कहा गया है कि धार्मिक समयों में जिस समय लोगों के मन पवित्र होते हैं, राज्य शासनों अथवा राजन्य आदि वर्णों की आवश्यकता नहीं होती। उस समय तो मोक्ष प्रधान और अर्थ काम गौण रहता है, अतएव आश्रमधर्म का ही जोर रहता है और शुद्ध धर्म का ही सब व्यवहार होता है।

शुद्ध धर्म

शुद्ध धर्म आश्रम व्यवस्था पर स्थिर है। कहने को तो आश्रम चार हैं, पर उनमें दो ही प्रधान हैं और दो सहायक हैं। लोक और परलोक का साधन करने वाला गृहस्थाश्रम लोक का और संन्यास आश्रम परलोक का साधक है। इन दोनों को मजबूत करने के लिए दो सहायक आश्रम बनाये गये हैं। ब्रह्मचर्याश्रम की सहायता के बिना गृहस्थाश्रम सुचारु रूप से नहीं चल सकता और वानप्रस्थाश्रम के बिना कोई भी मनुष्य गृहस्थी से एकदम संन्यास में नहीं जा सकता। अतएव गृहस्थ और संन्यास को सुदृढ़ करने के लिए ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ आश्रमों की योजना हुई है और नियमपूर्वक आश्रमों के व्यवहार का ही नाम शुद्ध धर्म है। इस शुद्ध धर्म का यह सिद्धान्त है कि बिना किसी प्राणी की आयुभोग में धक्का पहुँचाये अपने आयुभोग को प्राप्त करते हुए स्वयं मोक्ष प्राप्त करना और अन्य प्राणियों के लिए ऐसा मार्ग बना देना कि जिससे सब प्राणी अपने कर्मफलों को भोग कर मनुष्य शरीर के द्वारा मोक्ष को चले जांय। इस सिद्धान्त की रक्षा के लिए मनुष्य को अपने जीवन के दो लक्ष्य बनाने पड़ते हैं एक तो यह कि जहां तक हो सके इस सृष्टि से बहुत ही कम भोग्य पदार्थ लिए जांय और दूसरा यह कि जहां तक हो सके तपस्वी जीवन के साथ सृष्टि के कारणों का—आत्मा परमात्मा का—साक्षात् किया जाय। इन दोनों कर्तव्यों को लक्ष्य बनाने से धर्म का सिद्धान्त सुदृढ़ हो जाता है और धर्म की स्थिरता ही से मोक्ष का मार्ग सबके लिए सुलभ हो जाता है। धर्म की स्थिरता का साधारण साधन, अर्थ और काम की इयत्ता का निर्धारण है। हम अर्थ और काम का वर्णन करते हुए लिख आये हैं कि आर्यों ने अर्थ की इयत्ता को पांच जंजीरों से जकड़ा है। वे कहते हैं कि बिना किसी

प्राणी को सताये, विना स्वयं तकलीफ उठाये और विना स्वास्थ्य में विघ्न डाले केवल अपनी कमाई से यात्रामात्र के लिए जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी से निर्वाह किया जाय और शेष धन दूसरों का समझा जाय। इसी तरह काम की इयत्ता निर्धारित करते हुए उन्होंने यह नियम बनाया है कि विना ठाट-बाट, शोभा-श्रृङ्गार से अपनी ही विवाहित स्त्री में केवल एक ही सन्तान उत्पन्न की जाय अधिक नहीं। इन नियमों को स्थिर करने के लिए उन्होंने सादा और तपस्वी जीवन बनाने की योजना की है। इसके साथ ही धर्म की स्थिरता का दूसरा विशेष साधन उन्होंने ईश्वरपरायणता स्थिर किया है। वे जानते थे कि जब तक ईश्वर-प्राप्ति का प्रधान लक्ष्य सामने न हो तब तक सादे और तपस्वी-जीवन का कुछ भी अर्थ नहीं है। क्योंकि विना ईश्वरपरायणता के सादे और तपस्वी-जीवन की स्थिरता हो ही नहीं सकती और विना सादे और तपस्वी-जीवन के शुद्ध धर्म का दर्शन भी नहीं हो सकता।

इसी तरह विना शुद्ध धर्म के संसार की स्वाभाविक स्थिति की स्थिरता भी नहीं हो सकती। शुद्ध धर्म के व्यवहार से ही विलास, श्रृङ्गार और कामुकता की वृद्धि रुक जाती है, पशुओं और वृक्षों का अल्पायु में मरना बन्द हो जाता है और मनुष्यों में साम्यभाव पैदा हो जाता है, जिससे परस्पर का द्वेष, स्पर्धा और कलह शान्त हो जाता है। इसी तरह शुद्ध धर्म में अवर्षण, दुष्काल, महामारी और युद्धों का भी अन्त हो जाता है और प्राणिमात्र के लिए मोक्ष मार्ग सुलभ हो जाता है। कहने का मतलब यह है कि अर्थशुद्धि से पशुओं और वृक्षों की आयु और भोगों में बाधा नहीं पड़ती और कामशुद्धि से मनुष्यों में साम्यभाव उत्पन्न हो जाता है और दोनों का परिणाम यह होता है कि मनुष्य मोक्षसाधन के योग्य बन जाता है। यही शुद्ध धर्म का रहस्य है। परन्तु इस रहस्य में अर्थ और काम का अन्तर समझना बड़े महत्व की बात है।

क्योंकि अर्थशुद्धि बिलकुल ही कामशुद्धि पर अवलम्बित है और विना कामशुद्धि के मोक्षसाधन हो नहीं सकता। इसलिए मोक्षसाधन की कुंजी कामशुद्धि ही है। मोक्षसाधन में काम की उपेक्षा और ईश्वर प्राप्ति की अपेक्षा रहती है। मोक्षमार्गी सबसे पहले जन्ममरण कराने वाले मैथुन को बन्द कर देता है और ब्रह्मचर्य व्रत से पहिले अमोघवीर्यत्व प्राप्त करता है और फिर ऊर्ध्वरेता होकर प्राणायाम प्रणवजप के द्वारा [illegible] का यत्न करता

है। इस क्रिया से उसके मस्तिष्क में ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है और उसके मन और बुद्धि का निवास ब्रह्मरन्ध्र में होने लगता है और मन स्थिर हो जाता है। मन के स्थिर होते ही मनोज—काम--वीर्य--प्राणायाम की प्रेरणा से ऊर्ध्वगामी हो जाता है, जो ऋतम्भरा प्रज्ञा में भस्म होने लगता है। परिणाम यह होता है कि रति की इच्छा एकदम मन्द हो जाती है और उसके अधिक सन्तान नहीं होती है। इस विषय को वैज्ञानिक खोज करते हुए हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपने 'प्राणिशास्त्र के तत्त्व' नामी ग्रन्थ में लिखा है कि 'जितनी ही मानसिक शक्ति बढ़ती जायगी, उतनी ही प्रजोत्पादक शक्ति न्यून होती जायगी।' यही बात एक नीतिकार ने भी इस प्रकार कही है कि—

अत्यन्तमतिमेधावी त्रयाणामेकमश्नुते ।
अल्पायुषो दरिद्रो वा ह्यनपत्यो न संशयः ॥

अर्थात् अत्यन्त मेधावान् पुरुष निर्धन या अल्पायु अथवा निस्सन्तान होता ही है, इसमें सन्देह नहीं। निर्धन और निस्सन्तान तो उसे होना ही चाहिये, किन्तु अल्पायु का होना अपवाद है। यह उनके लिए है जो विना ब्रह्मचर्य के मेधा से अधिक काम लेते हैं। मेधा का ब्रह्मचर्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्योंकि मस्तिष्क और शिश्न के तन्तुओं का लगाव एक में है। देखा गया है कि जिस प्रकार हस्तमैथुनादि नियमविरुद्ध शिश्न स्पर्श से मस्तिष्क कमजोर हो जाता है और लोग पागल हो जाते हैं, उसी तरह अत्यन्त मानसिक और मेधा शक्ति के व्यय से शिश्नेन्द्रिय में भी कमजोरी आ जाती है और सन्तति का उत्पन्न होना एकदम बन्द हो जाता है। परन्तु मेधा और शिश्न की उचित रक्षा से दोनों में सामञ्जस्य रहता है। इसलिए सन्ततिनिरोध का सबसे उत्तम तरीका अमोघवीर्यत्व ही है। इसी तरीके से ज्ञान में उन्नति होती है, मनुष्य परमात्मा के ढूंढ निकालने में समर्थ होता है और प्रजा की बाढ़ बन्द होकर थोड़ी रह जाती है। प्रजा की बेहद बाढ़ के रुक जाने से और सबके एकाध सन्तति के होने से किसी को भी अन्नकष्ट नहीं होता। सब प्राणी अपनी पूर्ण आयु जीते हैं तथा सबके लिए मोक्ष का मार्ग सुलभ हो जाता है।

इसीलिए आर्यों ने गायत्री मन्त्र द्वारा मेधा बढ़ाने का आयोजन बचपन से ही—उपनयन संस्कार से ही कर दिया है। इस प्रकार से इस मोक्षाभिमुखी काम अवरोध के पश्चात् अर्थ-शुद्धि का काम बहुत ही सरल हो जाता है। तभी लोग शृङ्गारवर्जित और विलास रहित हो जाते हैं। साधारण भोजन,

वस्त्र, गृह और गृहस्थी के अतिरिक्त किसी को व्यर्थ के आडम्बर की आवश्यकता नहीं रहती। तभी चारों आश्रम अपने-अपने कर्तव्यों को पूर्ण कर सकते हैं। आर्यों ने इस प्रकार की शिक्षा और सभ्यता के प्रचार के उद्देश्य से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के पछत्तर वर्ष पूर्ण तपस्वी, अखण्ड ब्रह्मचारी और मोक्षाभिमुखी बनाने के लिए नियत किए हैं और उनकी जीविका को दूसरों के आधीन रखकर गायत्रीमन्त्र के द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा के बढ़ाने और मोक्ष प्राप्त करने का दरवाजा खोल दिया है और इन्हीं तपस्वी आश्रमों के बीच में गृहस्थाश्रम को भी लाकर जकड़ दिया है, जिससे ब्रह्मचर्याश्रम से आया हुआ और वानप्रस्थ तथा संन्यास में जाने वाला गृहस्थ कभी विलासी हो ही नहीं सकता।

चारों आश्रमों की इस जीवन यात्रा से न किसी प्राणी को कष्ट होता है, न सन्तति बढ़ती है और न सृष्टि में किसी प्रकार की असमानता ही होती है। परन्तु इसी में कामुकता का संचार होते ही--विलास और श्रृङ्गार की वृद्धि होते ही यह सारा कार्यक्रम बदल जाता है और मनुष्य पतित होकर समस्त प्राणियों के दुःख का कारण बन जाता है। इसलिए अर्थ में काम के प्रवेश को बड़ी ही सावधानी से रोकना चाहिए। अर्थ और काम का अन्तर समझने के लिए इतना ही इशारा काफी है कि जितने पदार्थ शरीर की रक्षा के लिए आवश्यक हैं, वे अर्थ हैं और जो केवल मन प्रसन्न करने के लिए हैं, वे काम हैं। उदाहरण के लिए समझना चाहिए कि सर्दी में बिना रजाई के शरीर रक्षा नहीं हो सकती, परन्तु रजाई में लाल, पीली मगजी बिलकुल ही व्यर्थ है, वह केवल मनोरंजन के ही लिए है। इसी तरह कालर, नेकटाई और कोट पतलून अथवा अङ्गा और अबा आदि की बात भी है। ये फैशन से सम्बन्ध रखने वाले सभी पदार्थ केवल शोभा श्रृङ्गार के ही लिए हैं--मनोरंजन के लिए हैं, वास्तविक आवश्यकता के लिए नहीं। इन पदार्थों के बिना मनुष्य समस्त आयु सुखी रह सकता है, पर रजाई अथवा कम्बल के बिना सर्दी से शरीर-रक्षा नहीं कर सकता। इसलिए सादी रजाई या सादी कमली अर्थ है और लखनऊ की मगजीदार रजाई या ऊलन मिल के लाल पीले कम्बल काम है। इसी कसौटी से अर्थ और काम का अन्तर सर्वत्र समझ लेना चाहिये। आर्यों ने इस सिद्धान्त को बहुत ही अच्छी तरह समझा था और कामनाओं को ब्रह्मचर्य आश्रम से ही हटाने का प्रयत्न किया था। मनु भगवान् लिखते हैं कि-

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ (मनु० २।६४-६५)

अर्थात् काम की इच्छा काम भोग से शान्त नहीं होती, प्रत्युत वह उसी प्रकार बढ़ती है, जिस प्रकार घृत पाकर अग्नि बढ़ती है, इसलिए उसका त्याग ही उत्तम है। यह ब्रह्मचारियों के लिए शिक्षा दी गई है। बचपन से इस प्रकार की शिक्षा इसीलिए दी गई है कि गृहस्थाश्रम में पहुँचकर भी मनुष्य कामुक न हो। गृहस्थ के पूर्व ब्रह्मचर्य-आश्रमी को जिन कारणों से काम्य विषयों से दूर रहने के लिए कहा गया है, उन्हीं कारणों को ध्यान में रखकर गृहस्थाश्रम के पश्चात् वाले वानप्रस्थादि आश्रमों से भी काम्य विषयों के हटाने का विधान किया गया है। गृहस्थ के पूर्व और पश्चात् काम्य भावों के विरुद्ध घनघोर तपश्चर्या का जीवन विद्यमान है। इससे सहज ही अनुमान कर लेना चाहिये कि गृहस्थ को भी काम्य भावों से दूर ही रहना चाहिये। गृहस्थ को काम के नाम से केवल एक ही सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा है।

इसी एक सन्तान के लिए उसे दाम्पत्य स्नेह में बंधना पड़ता है। यह दाम्पत्यस्नेह और एक दो सन्तान की उत्पत्ति कामुकता की परिचायक नहीं है, प्रत्युत सृष्टि की आज्ञा का विनयपूर्वक पालन करना है। क्योंकि सृष्टि ने स्त्री-पुरुषों को समान संख्या में उत्पन्न करके यह सूचित कर दिया है कि जिस प्रकार प्राणीमात्र में काम का समान बटवारा है, उसी प्रकार मनुष्यों में भी समान ही बटवारा होना चाहिये। जुलाई सन् १९०७ की प्रसिद्ध सरस्वती पत्रिका में लिखा है कि 'एक विद्वान् ने प्राकृतिक उदाहरणों द्वारा इस बात को सिद्ध किया है कि प्रत्येक पुरुष को एक ही विवाह करने—एक ही स्त्री रखने-की ईश्वराज्ञा है। उसने सारे संसार की नरनारियों की संख्या पर से यह हिसाब लगाया है कि जगत् में जितने पुरुष हैं, प्रायः उतनी ही स्त्रियां भी हैं। मर्द और औरतों की संख्या प्रायः बराबर है, इस हिसाब में लड़के और लड़कियां भी बराबर ही हैं। योरोप और अमरीका आदि जितने सफेद चमड़े के आदमी हैं, उनमें प्रति १०० आदमियों के मुकाबिले में १०१ स्त्रियां हैं। अमरीका के हबशियों में भी नर और नारियों की यही संख्या है। जापानियों में प्रति १०२ आदमियों के मुकाबिले में १०० स्त्रियां हैं। भारतवर्ष में कुछ विशेषता है

यह विशेषता ऐसी है, जो ध्यान में रखने लायक है। यहां १०४ आदमियों और लड़कों के मुकाबिले में १०० स्त्रियां और लड़कियां हैं। अर्थात् पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां कुछ कम हैं। अतएव एक पुरुष को एक से अधिक स्त्री से सम्बन्ध करना अन्याय है, ईश्वर की आज्ञाका उल्लंघन है और प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है। इतना ही नहीं किन्तु विद्वानों ने पता लगाया है कि अन्य प्राणियों में भी नर और मादा की संख्या समान ही है। वे कहते हैं कि सृष्टि इस समानता को बड़े यत्न से पूरा करती है।

यदि किसी योनि की नर या मादा की कुछ संख्या नष्ट कर दी जाय, तो शीघ्र ही वह संख्या पूरी हो जायगी। डाक्टर ट्राल कहते हैं कि 'सृष्टि का यही एक नियम है कि यदि स्वाभाविक समानता में किसी प्रकार का अन्तर डाला जाता है, तो शीघ्र ही उतनी संख्या उत्पन्न होकर वह अन्तर पूरा हो जाता है। पशुपक्षियों में ही नहीं प्रत्युत मनुष्यों में भी यह नियम काम कर रहा है। प्रायः देखा गया है कि युद्धों में पुरुष मारे जाते हैं, अतः युद्ध के पश्चात् प्रायः लड़के ही अधिक उत्पन्न होते हैं और जब शान्ति हो जाती है तब लड़कियों की वृद्धि शुरू होती है। इन नियमों से पाया जाता है कि नरनारी का जोड़ा कायम रखना सृष्टि को मंजूर है। इसलिए गृहस्थ को उचित है कि वह एक स्त्री से विवाह करके अपने (स्त्रीपुरुष के) दो प्रतिनिधि अवश्य उत्पन्न करे। इतने तक वह धार्मिक ही रहेगा—कामी नहीं कहला सकता। जिस प्रकार बिना मगजी की रजाई अर्थ है अनर्थ नहीं उसी तरह एक दो सन्तान का उत्पन्न करना भी कामुकता का परिचायक नहीं है। यही अर्थ काम का धार्मिक रहस्य है। इसलिए एक धार्मिक मनुष्य को चाहिये कि वह सृष्टि के स्वाभाविक बटवारे को ध्यानमें रखकर और एक पुरुषके लिए एक स्त्रीका काम सम्बन्धी समान नियम देखकर जिस प्रकार समानता से एक स्त्री एक पुरुष को या एक पुरुष एक स्त्री को ले सकता है, उसी प्रकार भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी से सम्बन्ध रखने वाला समस्त अर्थ भी समस्त मनुष्यों को ध्यान में रखकर समानता ही से ले सकता है। जिस प्रकार स्त्रीपुरुष का काम सम्बन्धी असमान बटवारा समाज में विप्लव उत्पन्न करता है, उसी प्रकार अर्थसम्बन्धी असमान बटवारा भी समाज में क्षोभ उत्पन्न करता है। इसीलिए आर्यों ने एक स्त्री के लिए एक ही पुरुष का और एक पुरुष के लिए एक ही स्त्री का नियम बनाया है तथा समस्त मनुष्यों को समानता से

अर्थ के उपयोग करने की आज्ञा दी है। वेद में लिखा है कि दो धुरों के बीच में दबा हुआ घोड़ा जिस प्रकार चिल्लाता है उसी प्रकार दो स्त्री वाले पुरुष की भी दुर्गति होती है[1], इसलिये एक ही स्त्री करनी चाहिये और इसी तरह सबको समानता से अर्थ का भी उपयोग करना चाहिये। सबको समान अर्थ के लेने की आज्ञा देते हुए वेद में परमात्मा उपदेश करते हैं कि—

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥ (अथर्व० ३.३०।६)
ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः।
येषाᳬ श्रीर्मयि कल्पतामस्मिंल्लोके शतᳬ समाः। (यजु० १६।४६)
सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हयत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ (अथर्व० ३।३०।१)
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ (ऋ० १०।१६१.४)
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।(ऋ०१०।१६१।३)

अर्थात् तुम्हारे दुग्धादि पेय पदार्थ समान हों और अन्न का विभाग साथ-साथ हो। जिस प्रकार रथ नाभि के चारों ओर आरे एक समान होते हैं उसी प्रकार तुम सब लोग एक समान होकर यज्ञ करो। समस्त जीवों में जो मन से साम्य भाव वाले हैं, वही मुझको प्रिय हैं और उन्हीं की सम्पत्ति सैकड़ों वर्ष तक कायम रहती है। इसलिए मैं तुम सबको समान हृदय और समान मन वाला करके द्वेषरहित करता हूँ। तुम एक दूसरे से इस प्रकार प्यार करो, जैसे गौ अपने स्वयःजात बछड़े से प्यार करती है। तुम अपने विचार, हृदय और मन को एक समान करो तथा अपनी गुप्त सलाहों, सभाओं और हार्दिक विचारों को एक समान करने का यत्न करो। ये अर्थसम्बन्धी वेदों के उपदेश हैं। इन्हीं वैदिक उपदेशों को ध्यान में रखकर मनु भगवान् कहते हैं कि—

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च।
वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह॥ (मनु० ४।१८)

अर्थात् गृहस्थ अपनी उम्र, कर्म, वेद, और समस्त मनुष्यों के अनुरूप ही

---

१ उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानि। (ऋग्वेद)

अपने वेष, वाणी और बुद्धि से आचरण करता हुआ संसार में रहे। यहां सबके समान ही अपना वैदिक वेष रखने के लिए जोर दिया गया है। इसका कारण यही है कि प्रायः वेषभुषा ही असमानता को प्रकट करती है—शोभा शृङ्गार और ठट-बाट ही से असमानता का आरम्भ होता है--इसलिए उसकी रोक की गई है। आर्यसभ्यता में इस साम्यभाव की बड़ी ही महिमा है। उनकी सभ्यता में परमेश्वर समदर्शी कहलाता है। इसीलिए भगवद्गीता में कहा गया है कि 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' अर्थात् वही पण्डित हैं--बुद्धिमान् है जो चांडाल और कुत्ते के साथ भी साम्यभाव से व्यवहार करता है। आर्यसभ्यता का यही आदर्श है। किन्तु यह न समझ लेना चाहिये कि यह साम्यवाद योरोप के रूस आदि देशों का सा साम्यवाद है। रूस के साम्यवाद में और वैदिक साम्यवाद में जमीन आसमान का अन्तर है। रूस का साम्यवाद शृङ्गारिक साम्यवाद है। वह सबमें आमोद-प्रमोद और विलास की समता का प्रचार करता है, त्याग और तपस्वी जीवन का नहीं। यही कारण है कि वह भी मशीनों द्वारा शृङ्गार बढ़ाने वाले पदार्थों को तैयार करके संसार का धन लेना चाहता है और बदले में विलास बढ़ाने वाले पदार्थ देना चाहता है। इसकी स्कीम में पशुओं और वृक्षों की आयु और भोगों पर विचार करने के लिए बिलकुल ही स्थान नहीं है और न कर्मफलों तथा कर्मफलों के दाता परमेश्वर के ही लिए कोई स्थान है।

इसलिये वह साम्यवाद विलासियों का ही है, उससे संसार की आर्थिक समस्या हल नहीं हो सकती। क्योंकि संसार में इतना शृङ्गारिक सामान ही नहीं है, जिससे संसार के सभी मनुष्य समानता से विलास और शृङ्गार का उपभोग कर सकें। सोना, चांदी, हीरा, मोती, रेशम, हाथी दांत और सवारी तथा फरनीचर आदि जितने विलास से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ हैं, वे बहुत ही थोड़े हैं। उनसे बहुत ही थोड़े लोगों का शृङ्गार बढ़ाया जा सकता है। एक-एक तोले वजन के हीरे और मोती संसार में कितने हैं। क्या वे इतने हैं कि उनकी एक-एक माला संसार के समस्त मनुष्यों को दी जा सके और क्या संसार में इतना सोना है कि सब मनुष्यों को सोने के बर्तन एक समान बनवा-कर दिये जा सकें ? नहीं। संसार में ऐसे अमूल्य पदार्थ बहुत ही थोड़े हैं। इसलिए रूस आदि योरोपीय देशों के शृङ्गारिक साम्यवाद का सिद्धान्त बिलकुल ही गलत है। परन्तु आर्यों के वैदिक साम्य... [illegible] ...भारत त्यागवाद की

पवित्र बुनियाद पर रची गई है और उनमें 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' और 'यात्रामात्र प्रसिध्यर्थं' का सिद्धांत काम कर रहा है, जिसका मतलब यही है कि जो कुछ दूसरे प्राणियों के भोग से बच जाय, उसमें से केवल अपनी जीवनयात्रा के निर्वाहमात्र के लिए ही लेना चाहिये अधिक नहीं। आर्यों के इस त्यागवाद में समस्त पशु-पक्षी कीट पतङ्ग और तृण-पल्लव की पूर्ण आयु और पूर्ण भोगों की सुविधा का मूल मंत्र काम कर रहा है और तपस्वी जीवन के साथ साथ स्वयं पूर्ण आयु जी कर मोक्ष प्राप्त करने तथा अन्य प्राणियों के लिये भी मोक्षप्राप्ति का मार्ग विस्तृत करने का महान् ध्येय विद्यमान है, इसलिए वैदिक साम्यवाद के साथ योरोपियन साम्यवाद की तुलना नहीं हो सकती। शुद्ध त्यागवादी आर्यों ने अच्छी तरह समझ लिया है कि मनुष्य की तृप्ति शृङ्गार, विलास और कामुकता से नहीं हो सकती। यही कारण है कि आर्यसभ्यता के प्रचारकों ने बड़े जोड़ से कहा है कि—

> यः पृथिव्यां व्रीहियवौ हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
> नालमेकेन तत्सर्वं इति मत्वा शमं व्रजेत्॥

अर्थात् इस पृथिवी का समस्त अन्न, सोना और स्त्रियां एक पुरुष के लिए भी पर्याप्त नहीं है, इसलिए इन सबका त्याग ही उत्तम है। ऐसी दशा में रूस का संग्रहवाद आर्यों के त्यागवाद के साथ कुछ भी समता नहीं कर सकता। आर्यों ने अपने इस त्यागवाद को ब्रह्मचर्य आश्रम से आरम्भ किया है और वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम में खतम किया है। आर्यों की आयु का $\frac{3}{4}$ भाग त्यागी, तपस्वी और ईश्वरपरायण है। बीच की आयु का $\frac{1}{4}$ भाग जो आदि-अन्त में तपस्वी जीवन से जकड़ा हुआ गृहस्थाश्रम के नाम से प्रसिद्ध है, वह भी उक्त समाज के $\frac{3}{4}$ भाग को अन्न पहुँचाने में ही लगाया गया है। इसलिए उसके पास भी विलासी जीवन बनाने के लिये न तो कुछ बच ही सकता है और न उसको इस पाखण्ड की फुरसत ही है। इसके अतिरिक्त वह भी पच्चीस, छत्तीस अथवा अड़तालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य-व्रत करके आया है और शीघ्र ही वनस्थ होने वाला है इसलिये भी वह तपस्वी जीवन के अभ्यास को छोड़ नहीं सकता। वह किसी प्रकार यात्रामात्र से निर्वाह करके और एक दो सन्तान को उत्पन्न करके मोक्षसाधन के लिये अरण्यवासी होने वाला है, इसलिये आर्यों का गृहस्थाश्रम तपस्वियों का ही आश्रम है। अर्थात् सारा आर्यसमाज ही त्यागी और तपस्वियों का समाज है। आर्यों के ऐसे त्यागी

और तपस्वी आदर्श गृहस्थों का वर्णन आर्यों के इतिहास में बहुतायत से पाया जाता है। समस्त ऋषि मुनि गृहस्थ ही थे। उनके भी स्त्री और बच्चे थे। किन्तु उनकी रहन-सहन बिलकुल ही सादी और तपस्वियों की सी थी। अनसूया और शकुन्तला आदि ऋषिपत्नियां और ऋषिकन्याएं अरण्यवासिनी ही थीं, रामचन्द्र और पाण्डवों ने गृहस्थाश्रम के साथ ही चौदह-चौदह वर्ष का बनवास आसानी से काट दिया था। बाल्मीकि के आश्रम में भी सीता के पहुँच जाने पर और लवकुश के उत्पन्न हो जाने पर खासा कुटुम्ब एकत्रित हो गया था और पूरा गृहस्थ का नमूना था। किन्तु उनकी सम्पत्ति की क्या दशा थी, यह इस वर्णन से अच्छी प्रकार प्रकट होता है, जो लवकुश के पुरस्कार से सम्बन्ध रखता है। एक बार लवकुश ने ऋषियों को रामायण का गाना सुनाया। गाना सुनकर समस्त ऋषिमण्डली अत्यन्त प्रसन्न हुई और लवकुश को अनेकों पदार्थ उपहार में दिये। उपहारसामग्री का वर्णन करते हुए वाल्मीकि मुनि कहते हैं कि

संरक्ततरमत्यर्थं मधुरं तावगायताम्।
प्रीतः कश्चिन्मुनिस्ताभ्यां संस्थितः कलशं ददौ ॥
प्रसन्नो वल्कलं कश्चिद्ददौ ताभ्यां महायशाः।
अन्यः कृष्णाजिनमदाद्यज्ञसूत्रं तथापरः ॥
कश्चित्कमण्डलुं प्रादान्मौञ्जीमन्यो महामुनिः।
बृसीमन्यस्तदा प्रादात्कौपीनमपरो मुनिः ॥
ताभ्यां ददौ तदा हृष्टः कुठारमपरो मुनिः ॥
कषायमपरो वस्त्रं चीरमन्यो ददौ मुनिः ॥
जटाबन्धनमन्यस्तु काष्ठरज्जुं मुदान्वितः।
यज्ञभाण्डमृषिः कश्चित्काष्ठभारं तथापरः ॥
औदुम्बरीं बृसीमन्यः स्वस्ति केचित्तदावदन्।
आयुष्यमपरे प्राहुर्मुदा तत्र महर्षयः ॥

(वाल्मीकि रामायण–बालकाण्ड)

अर्थात् लवकुश के काव्यसंगीत से मुग्ध होकर किसी ऋषि ने वल्कल, किसी ने कृष्णाजिन (मृगचर्म), किसी ने कमण्डलु, किसी ने मौंजी, किसी ने कुशासन, किसी ने कौपीन, किसी ने कुठार, किसी ने काषाय वस्त्र, किसी ने जटा बांधने का चीर, किसी ने काष्ठ बांधने की रस्सी, किसी ने यज्ञ का

भांडे, किसी ने समिधाभार और किसी ने चौकी दी और किसी ने आयुष्मान् हो, ऐसा आशीर्वाद ही दिया। इस वर्णित सामग्री से उस समय के जीवन का और उस समय की गृहस्थी का पता अच्छी प्रकार लग जाता है। ये ऋषि भी गृहस्थ थे। इनके भी ऋषिपत्नियां थीं, बाल-बच्चे थे और शादी विवाह होते थे। ये मूर्ख न थे, किन्तु इतने विद्याप्रेमी और ज्ञानपटु थे कि आज संसार उनकी जूठन खाकर विद्वान् होता है। पर उनकी गृहस्थी का यह कैसा सौम्य चित्र है? इससे सहज ही समझ में आ जाता है कि आर्य गृहस्थ भी कितनी सादी और सहज गृहस्थी के साथ रहते थे और आर्य सभ्यता को कितना अल्प संग्रह की ओर अग्रसर किये हुए थे। यही त्यागवाद है। इस प्रकार के त्यागवाद की समानता से संसार से तीन बातें उठ जाती हैं। सब से पहिले तो चोरी का अभाव हो जाता है। जहां सभी लोग सादे, तपस्वी और समान अर्थ वाले होते हैं वहां अधिक पदार्थों के संग्रह करने की प्रवृत्ति ही नहीं होती। चोरी तो तभी होती है जब किसी के पास अधिक और किसी के पास कम पदार्थ होते हैं। किन्तु जहां समानता है—जहां मोह उत्पन्न कराने वाला कोई पदार्थ ही नहीं है—वहां कोई किसी का पदार्थ ले ही नहीं सकता। दूसरी बात जो उठ जाती है वह व्यभिचार है। जहां लोग तपस्वी और समान अर्थ वाले होते हैं, वहां यह बात नहीं होती कि किसी के तो धन के कारण दो-दो विवाह हो जायं और किसी का विवाह ही न हो। उस समय तो सबको स्त्री प्राप्त हो जाती है और व्यभिचार में कमी हो जाती है। साथ ही जब शृङ्गार का एकदम बहिष्कार हो जाता है तब शोभा शृङ्गार के कारण जो व्यभिचार होता है, वह भी बन्द हो जाता है। इन दो बुराइयों के बन्द होते ही तीसरी बुराई लड़ाई, झगड़ा, मारपीट, पंचायत और अदालत आदि कलह के समस्त अङ्ग एकदम उठ जाते हैं। इतना ही नहीं किन्तु काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और मत्सर आदि मानसिक विकार भी दूर हो जाते है। क्योंकि संसार में अर्थ-काम—धन और स्त्री का ही तो झगड़ा है। जब सबको समान सम्पत्ति और समान स्त्री प्राप्त है, तो वैमनस्य किस बात का। इसीलिए आर्य सभ्यता कहती है कि—

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति ॥

अर्थात् जो पराई स्त्री को माता के समान, पराये धन को ढेले के समान

और समस्त प्राणियों को अपने समान देखता है वही देखता है। यही कारण है, कि आर्यों ने अपनी सभ्यता में अत्यन्त सादगी, तपस्या और ईश्वरपरायणता को स्थान दिया है। अतएव वैदिक ऋषि-गृहस्थों का उपर्युक्त सामान देखकर यह न समझ लेना चाहिये कि यह संन्यासियों की गृहस्थी है। हमने गृहस्थों को भी फलाहारी, वल्कलधारी और मिट्टी तथा अलाबुपात्र से जो निर्वाह करना लिखा है, वह उपयुक्त ही है। आज भी लाखों जंगल निवासी गृहस्थी इसी प्रकार की रहन सहन से रहते हैं। उनके पास से यदि एक स्त्री को निकाल दें, तो उनका समस्त जीवन संन्यासियों का ही हो जाय। यही कारण है कि उनके यहां परस्पर चोरी, व्यभिचार और लड़ाई-झगड़ा बहुत ही कम होता है। आज यदि उनमें अहिंसा, सृष्टिज्ञान और ईश्वरपरायणता होती तो हम उन्हें ऋषि ही कहते। किन्तु ऋषित्व प्राप्त करने के लिए आर्य सभ्यता का अनुकरण करना पड़ता है—ब्रह्मचर्य आश्रम से ही गायत्री, प्राणायाम, ब्रह्मचर्य, सृष्टि के कारणों का ज्ञान और साम्यवाद का अभ्यास करना पड़ता है—इसलिए जंगली सभ्यता और आर्यसभ्यता में अन्तर हो जाता है।

इसका कारण यही है कि आर्य सभ्यता विचारपूर्वक स्थिर की गई है और जंगली सभ्यता अज्ञान के कारण आप ही आप बन गई है। आर्य सभ्यता को बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचारी के मन में बैठालने का आयोजन किया गया है, इसीलिये ब्रह्मचारी गायत्री मन्त्र से ऋतम्भरा प्रज्ञा के बढ़ाने वाली वेद विद्या को पढ़ता है, ब्रह्मचर्य से उत्पन्न वीर्य को प्राणायाम के द्वारा ऊर्ध्वगामी करता है और 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' के नित्य पाठ से सृष्टि के महान् कारण परमेश्वर को पहिचानता है। यह मन्त्र उसे नित्य शिक्षा देता है कि परमेश्वर ने इस सृष्टि को उसी तरह बनाया है जैसे पूर्वकल्प में बनाया था। इन वैदिक क्रियाओं से वह सादा, तपस्वी और ईश्वरपरायण बनता है तथा सदैव सहपाठियों के साथ समान भाव से रहने के कारण उसमें त्यागभाव की समानता का भाव पुष्ट हो जाता है अतएव आर्यों का साम्यवाद अपनी निराली छटा के साथ सामने आता है, संन्यासीपन, जंगलीपन या बोलशेविकपन के साथ नहीं। आर्यों के प्राचीन वैदिक साम्यवाद की पुनः प्रतिष्ठार्थ स्वामी दयानन्द सरस्वती ब्रह्मचारियों के लिए सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं कि 'सब को तुल्य वस्त्र, खान पान, आसन दिये जाएं, चाहे वह राजकुमार हों, चाहे राजकुमारी हों, चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सब को तपस्वी होना

चाहिए।' यहां साम्यवाद के साथ तपस्वी जीवन की बात कही गई है जो बड़े ही मार्के की है। इसी प्रकार साम्यवाद का जिक्र करते हुए गीतारहस्य पृ० ४०४ और ३६८ में लोकमान्य तिलक महाराज कहते हैं कि 'साम्यबुद्धि को बढ़ाते रहने का अभ्यास प्रत्येक मनुष्य को करते रहना चाहिये और इस क्रम से संसार भर के मनुष्यों की बुद्धि जब पूर्ण साम्य अवस्था में पहुँच जावेगी तभी सत्ययुग की प्राप्ति होगी तथा मनुष्य जाति को परम साध्य प्राप्त होगा अथवा पूर्ण अवस्था सब को प्राप्त हो जावेगी। कार्य अकार्यशास्त्र की प्रवृत्ति भी इसी लिए हुई है और इस कारण उसकी इमारत को भी साम्यबुद्धि की ही नींव पर खड़ा करना चाहिये।

अहिंसकैरात्मविद्भिः सर्वभूतहिते रतैः।
भवेत् कृतयुगप्राप्तिः आशीःकर्मविवर्जिता॥

आत्मज्ञानी, अहिंसक, एकान्त धर्म के ज्ञानी और प्राणिमात्र की भलाई करने वाले पुरुषों से यदि यह जगत् भर जावे, तो आशीःकर्म अर्थात काम्य अथवा स्वार्थ बुद्धि से किये हुए सारे कर्म इस जगत् से दूर होकर फिर कृतयुग प्राप्त हो जावे (महा० शा० ३६८, ६३) क्योंकि ऐसी स्थिति में सभी पुरुषों के ज्ञानवान् रहने से कोई किसी का नुकसान तो करेगा ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक मनुष्य सब के कल्याण पर ध्यान देकर तदनुसार ही शुद्ध अन्तःकरण और निष्काम बुद्धि से अपना अपना बर्ताव करेगा। हमारे शास्त्रकारों का मत है कि बहुत पुराने समय में समाज की ऐसी ही स्थिति थी और वह फिर भी कभी न कभी प्राप्त होगी ही, इस वर्णन में लोकमान्य ने स्पष्ट रूप से बतला दिया है कि सब प्राणियों के सुख का ध्यान रखकर जो साम्यवाद होगा, वही सतयुग लाने वाला होगा। इसी प्रकार महात्मा गांधी ता० २८ अक्तूबर सन् १९२८ के गुजराती नवजीवन में विद्यार्थियों के एक आर्थिक प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखते हैं कि 'इस देश और सारे संसार की आर्थिक रचना ऐसी होनी चाहिये कि एक भी प्राणी अन्न वस्त्र के अभाव से पीड़ित न हो अर्थात् सब को अपने निर्वाह योग्य उद्यम मिल जाय। सारे संसार के लिए अगर हम ऐसी इच्छा करते हों तो अन्न वस्त्र पैदा करने वाले साधन प्रत्येक मनुष्य के पास रहना चाहिये। किसी को भी दूसरे की कमाई से सम्पत्तिवान् होने का लोभ बिलकुल न होना चाहिये। जिस प्रकार हवा और पानी पर सब का समान स्वत्व है अथवा होना चाहिये, उसी प्रकार अन्न वस्त्र पर भी होना

चाहिये। इसका इजारा किसी एक देश, जाति अथवा गद्दी पर होना न्याय नहीं, अन्याय है। इस महान् सिद्धान्त का अमल और बहुधा विचार भी नहीं किया जाता। इसी से देश और संसार के अन्य देशों में भूख का दुःख बना रहता है।'

ये हैं आर्यसभ्यता के साम्यवाद के नमूने। इन सब नमूनों में समस्त संसार के मनुष्यों और प्राणियों को ध्यान में रख कर साम्यवाद की चर्चा की गई है और सब में सादगी तथा तपस्वी जीवन की झलक विद्यमान है। इसलिए हम कहते हैं कि योरुप के साम्यवाद में और आर्यों के साम्यवाद में महान् अन्तर है। आर्यों का साम्यवाद अर्थात् त्यागवाद आस्तिकता से उत्पन्न होकर और सब प्राणियों को सुखी बनाकर परमात्मा का दर्शन कराता है और योरुप का साम्यवाद घृणित और अपवित्र कामुकता को बढ़ाकर मनुष्यों को पतित करता है। आर्यों का तपस्वी और त्यागी जीवन समस्त मनुष्यों, समस्त पशुओं और समस्त वृक्षों के मूलकारणों पर गम्भीरता से विचार करके और उस विचार को धार्मिक तुला से तौल कर सबको सबसे लाभ पहुंचाते हुए सबको मोक्षाभिमुखी बनाता है और समस्त प्राणी समूह को इस प्राकृतिक तङ्ग पृथ्वी से हटा कर आकाश स्वरूप अनन्त परमात्मा की आनन्दमयी गोद में स्वतन्त्रता से विचरण करने की प्रेरणा करता है, पर योरुप के साम्यवादी इन सबके मूल परमात्मा ही को हटा रहे हैं। इसलिए आर्यों के शुद्ध धर्म की तुलना योरुप की किसी भी नीति के साथ नहीं हो सकती।

आर्यों में जब तक इस शुद्ध धर्म का आचार और प्रचार रहा तब तक उनमें हर प्रकार से शान्ति रही किन्तु जैसा कि हम तृतीय खण्ड में लिख आये हैं कि कारणवश आर्यों में जब प्रमाद बढ़ा और वे शुद्ध वैदिक धर्म की जड़ ब्रह्मचर्य आश्रम के कठिन तप से जी चुराने लगे तब यह फल हुआ कि उनका एक बहुत बड़ा दल व्रात्य करके पृथक् कर दिया गया जो देशदेशान्तरों में फैल गया और अपना रूप, भाषा और आचार व्यवहार आर्यों के विपरीत बना कर यहां फिर आया और बस गया। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके संसर्ग से बचे हुए शुद्ध आर्य भी विलासी होगये और अपने विलासोत्पादक पदार्थों को बेचने के लिए भिन्न भिन्न देश में भेजने लगे। एक दीर्घकाल तक इनका यह विलास प्रचार जारी रहा, पर कुछ दिन से पृथ्वी के समस्त देशों ने इनकी नकल करनी आरम्भ कर दी है और स्पर्धा में उनसे भी आगे बढ़

गये हैं। इस स्पर्धा वृद्धि का जो कुछ दुःखद परिणाम हुआ है, वह आज सब के सामने है।

आर्यों का यह धार्मिक इतिहास बतलाता है कि चाहे जैसा बन्दोबस्त किया जाय, चाहे जितना धर्म का नियन्त्रण हो और चाहे जितना लोग सादे, तपस्वी तथा ईश्वरपरायण रहे, पर कुछ दिन या बहुत दिन के बाद समाज में ऐसे लोग भी अवश्य उत्पन्न हो जाते हैं, जो धार्मिक बन्धनों को तोड़ देते हैं और पापाचरण में रत हो जाते हैं। इसका कारण जीवों की स्वतन्त्रता हैं। यद्यपि जीव कर्मफलों के भोगने में परतन्त्र है, पर कर्म करने में स्वतन्त्र भी है। इसीलिये उनकी इस स्वतन्त्र कर्मपरायणता के कारण प्रबन्ध करने वालों को हार जाना पड़ता है। मनुष्यों की इस स्वतन्त्र कर्मपरायणता से बड़े-बड़े धर्म-गुरुओं को बीसों बार हारना पड़ा है। यहां तक कि मनुष्यों को कर्मानुसार दण्ड देकर संसार को आदर्श रूप रखने में परमात्मा को भी हारना पड़ा है। परमात्मा ने असंख्यों बार मनुष्यों को उनके कुकर्मों के कारण बड़ी-बड़ी पाप-योनियों में डाल कर शिक्षा दी है, पर आज तक मनुष्यों ने मनमाना पापकर्म करना बन्द नहीं किया। अर्थात् मनुष्यों ने मनुष्यों और अन्य प्राणियों का सताना बन्द नहीं किया। आज भी दुराचारी और अत्याचारी मनुष्य मनुष्यों और अन्य प्राणियों को इतना कष्ट देते हैं कि कभी कभी उस कष्ट, पीड़ा और यातना से लाखों प्राणियों को अकाल में ही मरना पड़ता है। इसलिये अत्याचारियों के द्वारा पहुंचाये जाने वाले कष्ट और मृत्यु से बचने के लिये आर्यों ने अपनी सभ्यता में शुद्ध धर्म के साथ-साथ आपद्धर्म को भी स्थान दिया है और आपद्धर्म के समय शुद्ध धर्म के नियमों के सुधारने अथवा बिल्कुल ही उलट देने की भी व्यवस्था की है।

आपद्धर्म

इस सृष्टि में जीव असंख्य हैं। शायद वे अत्यन्त छोटे-छोटे पार्थिवकणों से भी अधिक हैं। इन्हीं जीवों में मनुष्य भी हैं। मनुष्य की जैसी शक्ति है, वह सब पर विदित ही है, इसलिए यह कहने में जरा भी सन्देह नहीं है कि जीवों की भी संसार में एक विशेष शक्ति है। ये जीव मनुष्य शरीरों में आकर जब अपनी सामूहिक शक्ति का प्रयोग करते हैं, तो वह शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि ईश्वर द्वारा निर्मित बड़े-बड़े प्राकृतिक नियमों में भी विप्लव

उत्पन्न कर देती है। यही कारण है कि सृष्टि नियमों में कहीं न कहीं थोड़ा बहुत अपवाद भी बना रहता है और यह जानना कठिन हो जाता है कि मनुष्यों की सामुदायिक शक्ति का कब कहां प्रयोग हुआ और उससे कब कहां कौन-सा अपवाद उठ खड़ा हुआ। यद्यपि यह अज्ञात है तथापि यह निश्चित है कि मनुष्यों के नियम विरुद्ध कर्मजन्य अपवादों के कारण नाना प्रकार के अस्वाभाविक उत्पात उत्पन्न हो जाते हैं और वे शुद्ध धर्म के द्वारा रोके नहीं जा सकते। प्रत्युत जिस प्रकार वे अनियमित रीति से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उनका प्रतिकार भी अनियमित सिद्धान्तों के द्वारा होता है। अनियमित सिद्धान्तों का ही नाम आपद्धर्म है।

आपद्धर्म और अपवाद का साथ है। जहां अपवाद है वहीं आपत्-धर्म है। इसका कारण यही है कि जब अपवाद से अनियमितता उत्पन्न होती है और उस अनियमितता के कारण दुःख और मृत्यु का भय अधिक उत्पन्न होता है, सामने आती हुई भयङ्कर हिंसा दिखलाई पड़ती है तब अनियमित आपद्धर्म ही के द्वारा उस आने वाली भयङ्कर हिंसा का मूल नष्ट किया जाता है। यदि ऐसा न किया जाय तो अपवादों की वृद्धि हो जाय और समस्त संसार अनियमित दुःखों के कारण समूल नष्ट हो जाय। परन्तु आर्य सभ्यता में प्राणियों को दुःखी देखना अनुचित समझा गया है, इसलिये आर्यों ने आने वाली हिंसा की हिंसा ही को उचित समझा है और इसी को आपद्धर्म कहा है। क्योंकि संसार में हिंसा का समुद्र उमड़ रहा है और चार प्रकार की हिंसा से प्राणीसंहार हो रहा है। (१) आंधी, तूफान और वर्षा आदि के कारण असंख्य जीव अकाल में ही मर जाते हैं (२) सिंह, चीता, सर्प और अन्य प्राणियों के द्वारा करोड़ों जीव मारे जाते हैं (३) मनुष्यों के द्वारा लाखों पशु-पक्षी आदि प्राणी मारे जाते हैं और (४) मनुष्यों के द्वारा मनुष्यों का भी संहार होता है। हिंसा की इन चार श्रेणियों को दो विभागों में बांट सकते हैं। पहले विभाग में प्रथम और द्वितीय श्रेणी का समावेश हो सकता है और दूसरे विभाग में तृतीय और चतुर्थ श्रेणी का। पहले विभाग में अमानुषी हिंसा है और दूसरे में मानुषी, पर पहले विभाग की हिंसा का कारण दूसरा ही विभाग है। क्योंकि जितने प्राणी प्राकृतिक दुर्घटनाओं और सिंहादि प्राणियों के द्वारा अकाल में मारे जाते हैं, उनमें बहुत से उसी पाप के फल के कारण मारे जाते हैं, जो उन्होंने कभी मनुष्य शरीर में रह कर किया है।

यदि उन्होंने अपने मानव शरीरों से पाप न किया होता, तो यहां इन भोग शरीरों में पीड़ा न होती। किन्तु उन्होंने मनुष्य शरीर में नाना प्रकार के दुष्कर्म किये हैं, इसीलिए प्राकृतिक विप्लवों और अन्य प्राणियों के द्वारा उनकी यहां दुर्गति होती है। कीड़े को सर्प खाये जाते हैं, सर्प को मोर खाये जाता और मोर को कुत्ता खाये जाता है। इसी तरह घास को गाय और गाय को बाघ खा रहा है। यही नरक यातनायें हैं और इन्हीं को अमानुषी हिंसा कहते हैं। मानुषी हिंसा इससे विलक्षण है। इसके दो विभाग हैं, एक अज्ञात हिंसा और दूसरी ज्ञात हिंसा है। अज्ञात हिंसा वह है जो विना इरादे के, केवल शरीर की हलचल से हो जाती है और ज्ञात हिंसा वह है, जो जान-बूझकर की जाती है। मनुष्य चाहे जितना बचे— चाहे जितनी अच्छी व्यवस्था करे— परन्तु यह अज्ञात हिंसा से बच नहीं सकता। चलते-फिरते, काम करते और खाते पीते कुछ न कुछ प्राणियों का नाश हो ही जाता है। इसे हिंसा मानकर ही आर्यों ने पञ्चमहायज्ञों को नित्य करने की आज्ञा दी है।

परन्तु इस हिंसा स्वीकार का यह अर्थ नहीं है कि जब अज्ञात दशा में सूक्ष्म जीवों की हिंसा हो जाती है, तो लाइये गाय, भैंस, बकरी और मुर्गी को भी मार कर खा जावें। अपने स्वार्थ के लिए प्राणियों की हिंसा करना एक बात है और अज्ञात दशा में कृमियों का मारना अथवा अपने प्राण बचाने के लिए सिंह सर्पादि का मारना दूसरी बात है। यहां तो 'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्र-पूतं जलं पिबेत्',अर्थात् फूंक फूंक कर पैर रखने और छान छानकर पानी पीने पर भी जो हिंसा हो जाती है, उसी की गणना अज्ञात हिंसा में है और इस अज्ञात हिंसा से किसी प्रकार बचाव नहीं है।

वर्तमान समय के सब से बड़े अहिंसावादी महात्मा गांधी तारीख २८ अक्टूबर सन् १९२८ के गुजराती नवजीवन में लिखते हैं कि 'मुझे कबूल करना चाहिये कि मैं प्रतिक्षण हिंसा करके ही शरीर का भी निर्वाह करता हूं। इसी से शरीरविषयक रोग क्षीण होता जाता है। आश्रम की रक्षा करने में भी हिंसा कर रहा हूं। प्रत्येक श्वास से सूक्ष्म जन्तुओं की हिंसा करता हूँ, पर यह जानते हुए भी कभी श्वास को नहीं रोकता। वनस्पति आहार करने में भी हिंसा करता हूँ, तो भी आहार का त्याग नहीं करता। मच्छरादिक के क्लेश से बचने के लिये मिट्टी के तेल आदि का भी उपयोग करता हूं जिससे उनका नाश हो जाता है, पर यह जानते हुए भी इन नाशक पदार्थों का उप-

योग नहीं छोड़ता। सर्पों के उपद्रव से आश्रमवासियों के बचाने के लिये जब देखता हूं कि बिना मारे ये दूर नहीं हो सकते तब मारने देता हूँ। बैलों को चलाने के लिये आश्रम वाले उन्हें मारते हैं, यह भी सहन कर लेता हूँ। इस तरह मेरी हिंसा का अन्त ही नहीं।' ठीक है, मनुष्य इस प्रकार की अज्ञात और प्राण रक्षिणी हिंसा से बच ही नहीं सकता।

अब रही बात ज्ञात हिंसा की। ज्ञान हिंसा के दो विभाग हैं—पहिला विभाग मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य प्राणियों की हिंसा से सम्बन्ध रखती है और दूसरा विभाग मनुष्यों की हिंसा से सम्बन्ध रखता है। इन दोनों प्रकार की हिंसाओं को मनुष्य कर्मयोनि होने से जान-बूझ कर करता है, इसलिये वह हिंसा का फल पाता है और दूसरी योनियों में जाकर नाना प्रकार की उपर्युक्त नरकयातनाएं भोगता है। यद्यपि इन दोनों प्रकार की हिंसाओं में पाप होता है, पर इनमें मनुष्यों के नाश से सम्बन्ध रखने वाली हिंसा तो अत्यन्त ही घोर है। मनुष्य का मारना तो दूर की बात है। आर्यों ने तो मनुष्य को कटु वाक्य कहने में भी हिंसा ही मानी है। यहां तक कि उसके प्रति मन में दुष्ट विचार लाने को भी हिंसा ही कहा है। कहने का मतलब यह है कि मनुष्य को इस ज्ञात हिंसा से सदैव बचना चाहिये। किन्तु जैसा कि ऊपर चार श्रेणी की हिंसा का वर्णन किया गया है, इससे यही प्रतीत होता है कि संसार में हिंसा का एक प्रचण्ड प्रवाह बह रहा है, जो निर्मूल नहीं किया जा सकता। क्योंकि यह हिंसा प्रवाह ही संसार का मूल कारण है। जिस दिन हिंसा का उन्मूलन हो जायगा, उस दिन सृष्टि ही का अन्त हो जायगा; क्योंकि कायिक, वाचिक और मानसिक हिंसा से ही लोगों को दुःख होता है और दूसरों को दुःख देना ही पाप है और पापों का भोग ही संसार का कारण है। इसलिए संसार की इस मूलकारण हिंसा का अत्यन्ताभाव हो ही नहीं सकता। चाहे जितना धार्मिक बन्दोबस्त किया जाय, हिंसा करने वाले मनुष्यों की उत्पत्ति हो ही जायगी और शुद्ध व्यवस्था में अपवाद हो ही जायगा। परिव्राट् चाहे जितना सदाचार का प्रचार करे, अर्थ और काम में—लोभ और मोह में—वृद्धि हो ही जायगी और हिंसा अर्थात् पापजन्य पीड़ा से मनुष्यों को दुःख हो ही जायगा। जितने प्रकार के दुःख हैं—वेदनाएं हैं—सब मृत्यु की छोटी बड़ी सड़कें हैं, सब का अन्त मृत्यु में ही होता है और सब किसी न किसी प्रकार मृत्यु के निकट ही ले जाती हैं, इसीलिए अपवादों से उत्पन्न

हुई मृत्यु से बचने के लिये आपद्धर्म की योजना हुई है। मनु भगवान् कहते हैं कि —

विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः॥

अर्थात् सब देवों, साध्यों, ब्राह्मणों और ऋषियों ने आपत्काल के समय मृत्यु से बचने के लिए धर्म के प्रतिनिधि इस आपद्धर्म की रचना की है। इसी को नीति भी कहते हैं। यह नीति शुद्ध सत्य के आस ही पास रहती है। इसी को वेदों में ऋत कहा गया है। वेदों में 'ऋतञ्च सत्यञ्च' की भांति यह ऋत प्रायः सत्य के साथ ही आता है, क्योंकि सत्य शुद्ध धर्म है और ऋत आपद्धर्म है। यह आपद्धर्म धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक तीन प्रकार का होता है। अथर्ववेद ८।६।१३ में लिखा है कि

ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो धर्मा अनुरेत आगः।
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम्॥

अर्थात् ऋत के तीन मार्ग चलते हैं और तीनों अनुधर्म कहलाते हैं— एक प्रजा (समाज) के बल की रक्षा करता है, दूसरा राष्ट्र (राजनीति) की रक्षा करता है और तीसरा व्यक्ति (धर्म) की रक्षा करता है। अर्थात् सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक तीनों क्षेत्रों में अनुधर्म अर्थात् ऋत के तीनों मार्ग दौड़ते हैं। जब जहां जैसी आवश्यकता हो तब तहां तैसा व्यवहार करना चाहिये। भागवत ११।१६।३८ में ऋत की व्याख्या करते हुए "ऋतं च सूनृता वाणी' कहा गया है सूनृता शब्द का अर्थ करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि 'सत्यप्रिया वाक् सूनृता' अर्थात् प्रिय सत्य वाणी को सूनृता कहते हैं। प्रिय सत्य में और शुद्ध सत्य में जो अन्तर होता है, वही अन्तर ऋत और सत्य में है। प्रिय सदैव शुद्ध सत्य नहीं रह सकता। वह कभी-कभी प्रियता के कारण शुद्ध सत्य से हट जाता है। इसीलिए ऋत आपद्धर्म का और सत्य शुद्ध धर्म का प्रतिनिधि माना गया है। शुद्ध धर्म और आपद्धर्म सदैव सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक व्यवहारोंमें साथ साथ रहते हैं अतः जब जिसकी आवश्यकता होती है तब वही आगे हो जाता है। ऋ० ६।४७.७ में बहुत ही स्पष्ट रीति से कह दिया है कि 'भवा सुनीतिरुत वामनीतिः' अर्थात् सुनीति-धर्म से अथवा वामनीति-आपद्धर्म से ही सदैव कार्य सिद्ध करना चाहिये। इसका कारण स्पष्ट है कि जब दुष्ट मनुष्यों से साबिका पड़ता है और दुःखों

से त्रास उत्पन्न होता है—मृत्यु का भयंकर रूप सामने दीखने लगता है-तब आपद्धर्म के द्वारा ही अपनी रक्षा की जा सकती है। कहते हैं कि हिन्दुओं और मुसलमानों की लड़ाइयों में बहुधा मुसलमान सेनाध्यक्ष अपनी सेना के आगे बहुत सी गौओं को कर लिया करते थे। इसका फल यह होता था कि हिन्दू सैनिक गोवध के डर से गोली चलाना बन्द कर देते थे और मुसलमान सैनिक उन पर गोली चलाकर विजय प्राप्त कर लेते थे। किन्तु यदि हिन्दू सेनापति आपद्धर्म के अनुसार उस समय के गोवध को पाप न समझते और गोली बाढ़ करने की आज्ञा दे देते तो आज देश में हिन्दुओं के सामने इतना बड़ा गोसंहार न होता। इस पर आपद्धर्म के ज्ञाता किसी नीतिनिपुण ने सत्य ही कहा है कि 'व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः' अर्थात जो मायावियों की माया को नहीं समझ पाते, वे मूढबुद्धि अवश्य ही पराजित होते हैं। इसीलिए कहा है कि 'यस्मिन्यथा वर्तते यो मनुष्यः तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः' अर्थात् जो जिससे जिस प्रकार का व्यवहार करे, उससे उसी प्रकार का व्यवहार करना धर्म है। क्योंकि 'शठस्य शाठ्यं शठ एव वेत्ति' अर्थात् शठ को शठ ही शिक्षा दे सकता है। इसका कारण यह है कि आपत्ति के समय कर्तव्य अकर्तव्य और अकर्तव्य कर्तव्य हो जाता है। इसी लिए श्रीकृष्ण भगवान् गीता में कहते हैं कि—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

अर्थात् जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है। इसलिए जब जहां जैसा मौका हो तब वहां वैसा ही व्यवहार करना चाहिये। यही आपद्धर्म का रहस्य है और यही उसका तात्पर्य है।

आर्यशास्त्रों में वेदों के अतिरिक्त जो स्मृतियां देखने में आती हैं, वे भी एक प्रकार से आपद्धर्म की ही गठरी हैं। श्रुति के सामने स्मृति की कोई गणना नहीं है, पर कभी-कभी स्मृति से ही काम लिया जाता है। इसका कारण आपद्धर्म ही है। यह मानी हुई बात है कि मनुष्य का वही समाज उन्नत रह सकता है कि जिसमें ऋत और सत्य के तत्त्व समझे गये हों और दोनों के व्यवहार की कुंजी बतलाई गई हो। आपद्धर्म वा नीतिधर्म में कहां तक पाप है और कहां तक धर्म है इस बात का निर्णय करना सहज है। शुद्ध धर्म पर आई हुई बाधाओं को निवारण करने के लिए जिस वामनीति से

काम लिया गया हो, यदि वह धर्मोद्धार के बाद ही छोड़ दी जाय तब तो वह मर्यादित आपद्धर्म अर्थात् ऋत नाम की नीति ही कहलावेगी, किन्तु यदि धर्मोद्धार के बाद भी वही नीति व्यवहार में रख ली जाय तो वह ऋत नहीं प्रत्युत पाप ही कही जायगी। ऋत में—आपद्धर्म में—वामनीति में—पापांश है, पर वह धर्मोद्धार का कारण होने से पाप नहीं कहा जा सकता। पर वही यदि अपने मनोरंजन के लिए, दूसरों की हानि के लिए और सदैव व्यवहार में लाने के लिए नियुक्त कर दिया जाय तो अवश्य पाप हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं है। मनुस्मृति ११।२९-३० में लिखा है कि—

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते।
न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥३०॥
आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुते नापदि द्विजः।
स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥२९॥ (मनुस्मृति ११)

अर्थात् धर्मपालन की शक्ति रखता हुआ जो आपद्धर्म का सेवन करता है, उसको परलोक में फल नहीं मिलता। इसी तरह आपत्काल के धर्म को जो धर्म के समय में करता है उसका भी कर्म परलोक में निष्फल हो जाता है। अर्थात् वे दोनों पापी समझे जाते हैं। इन प्रमाणों से स्पष्ट हो गया कि धर्म और आपद्धर्म का व्यवहार अपने अपने समयों में ही करना चाहिये। आपद्धर्म का उत्तम उपयोग यही है कि वह धर्मोद्धार के ही लिए व्यवहार में लाया जाय। धर्मोद्धार हो जाने पर, धर्मसंकट टल जाने पर और मृत्युभय हट जाने पर वामनीति अथवा आपद्धर्म का व्यवहार छोड़ देना चाहिये।

यही धर्म और आपद्धर्म की व्यवस्था है। इसका एक उत्तम उदाहरण छान्दोग्य उपनिषत् ३०।१।१० में दिया हुआ है। वहां लिखा है कि कुरुदेश में ओलों के पड़ने से दुष्काल पड़ गया। दुष्काल के कारण उषस्ति ऋषि अपनी स्त्री के सहित हाथीवानों के गांव में गये और हाथीवानों को कुल्माष (कुलथी या उड़द) खाते हुए देखकर खुद भी याचना की। हाथीवानों ने कहा कि हमारे पास दूसरे उड़द नहीं हैं, इसी बर्तन में हैं, जिसमें हम खा रहे हैं। उषस्ति ने कहा कि इन्हीं में से हमको भी दीजिए। हाथीवानों ने उषस्ति को उसी बर्तन में से उड़द और पानी दिया। उषस्ति ने कहा कि यह पानी जूठा है। इस पर हाथीवानों ने कहा कि 'न स्विद् एते अपि उच्छिष्ठा इति' अर्थात् क्या ये कुल्माष जूठे नहीं हैं? इस पर उषस्ति ने कहा कि 'न

वै अजीविष्याम इमान् अखादन्, कामो मे अनुपानम् इति' अर्थात् इन उड़दों के बिना हम जी नहीं सकते थे, परन्तु पानी तो सर्वत्र भरा हुआ है।

इस कथा में धर्म और आपद्धर्म का चित्र खिंचा हुआ है। जिन उड़दों के बिना मृत्यु का भय था वे आपद्धर्म के द्वारा लिये गये, परन्तु जिस पानी के बिना मरने का भय नहीं था, उसके लिए शुद्ध धर्म का व्यवहार किया गया और जूठा पानी नहीं लिया गया। यही आपद्धर्म की सच्ची कसौटी है।

इसी प्रकार की एक दूसरी कथा आधुनिक काल में भी पाई जाती है। ता० २८ अक्तूबर सन् १९२८ के गुजराती नवजीवन में आत्मकथा लिखते हुए महात्मा गांधी लिखते हैं कि "डाक्टर दलाल ने कहा कि आप यदि लोह और संखिया की पिचकारी लें और दूध पियें तो मैं गारण्टी देता हूं कि आप का शरीर फिर दुरुस्त कर दूं। मैंने कहा कि पिचकारी दीजिये, पर दूध तो मैं नहीं लूंगा। डाक्टर ने पूछा कि आपको दूध की प्रतिज्ञा क्या है? मैंने कहा कि गाय भैंस दुहने के लिए दूध वाले बांस की नली से उनके गुप्तस्थानों में फूंक मारते हैं, यह जानने के बाद मुझे दूध पर तिरस्कार हुआ है।

"दूध मनुष्य की खूराक नहीं है यह तो मैं हमेशा से ही मानता रहता हूं, इसीलिए मैंने दूध का त्याग किया है। इस पर कस्तूरी बाई ने कहा कि तब तो बकरी का दूध लिया जा सकता है। इस पर डाक्टर दलाल ने कहा कि यदि आप बकरी का दूध लें, तो मेरा काम निकल जायगा। इस पर मैं गिरा। सत्याग्रह की लड़ाई ने मुझमें जीने का लोभ पैदा किया और मैंने प्रतिज्ञा के अक्षरों के पालन से सन्तुष्ट होकर उनकी आत्मा का हनन किया।

"यद्यपि दूध की प्रतिज्ञा के समय मेरी दृष्टि में गाय और भैंस ही थी तथापि मेरी प्रतिज्ञा दूधमात्र के लिए समझना चाहिये। जहां तक मैं पशुमात्र के दूध को मनुष्य की निषिद्ध खुराक मानता हूँ, वहां तक मुझे दूध पीने का अधिकार नहीं है। यह जानता हुआ भी मैं बकरी का दूध पीने के लिए तैयार हुआ। सत्य के पुजारी ने सत्याग्रह की लड़ाई के लिए जीने की इच्छा से अपने सत्य में परदा डाला।" यह कथा आपद्धर्म के मर्म को और भी स्पष्ट कर देती है। प्राचीन ऋषियों ने इस प्रकार के आपद्धर्म को हर मौके के लिए बड़े यत्न से कायम रक्खा है। इसीलिए संस्कारों का समय निश्चित करने तक में उन्होंने 'सर्वकालमित्येके' का सिद्धान्त स्थिर रक्खा है। यही धर्म और आपद्धर्म का रहस्य है। इस प्रकार के [illegible] नीतिधर्म या वामनीति

का काम प्रायः पड़ा ही करता है। पर जब तक ऐसा मौका न आ जाय कि अब धर्म ही जाता है, मृत्यु ही निकट आ रही है अथवा जाति या राष्ट्र का ही नाश हो रहा है तब तक उसका अनुष्ठान न करना चाहिये। अथर्ववेद की आज्ञानुसार प्रजा के दुःखी होने पर, राष्ट्र के दुःखी होने पर और अपने धर्म पर संकट आने पर ही ऋत का व्यवहार करना चाहिए। यही नीति है। हमने गत पृष्ठों में वैदिक अर्थ के चारों विभागों को जिन प्रमाणों के साथ लिखा है, उन्हीं प्रमाणों के साथ-साथ उन्हीं ग्रन्थों में परस्पर विरोधी प्रमाण भी मिलते हैं। इन सब को इस आपद् कोटि में ही समझना चाहिये।

उदाहरणार्थ मनुष्य फलाहारी है, किन्तु मौका आने पर वह अन्न भी खा सकता है। वेदों में जो अपूप, सक्तु और हवि आदि अन्न मिश्रित पदार्थों का वर्णन है, वह या तो यज्ञों में हवन करने के लिए है या आपत्काल में मनुष्यों के खाने के लिए हैं। इसी तरह मनुष्यों को बहुत कम वस्त्रों के साथ रहना चाहिये—अधोवस्त्र और उपवस्त्र ही पहनना चाहिये—किन्तु वेदों में जो अनेक वस्त्रों का वर्णन है, वह सर्द देशों में या दर्बारों में या किसी अन्य आवश्यक मौके पर पहिनने के ही लिए हैं। मौका पड़ने पर अपवाद के समय मनुष्य कीमती भड़कदार और अधिक कपड़े भी पहन सकता है। इसी तरह मकान मिट्टी और तृण का ही होना चाहिये पर पुस्तकों के रखने के लिए, राज्यसामग्री तथा किसी दरबार के लिए यज्ञमण्डप और किलों के लिए बड़े-बड़े ईंट पत्थर के भी महल बनवाये जा सकते हैं और दुष्ट तथा बर्बर शत्रुओं से बचने के लिए नाना प्रकार के शस्त्रास्त्र, रसद, सामान, कल, कारखाने और यन्त्रों का भी संग्रह और उपयोग किया जा सकता है।

इस प्रकार से वैदिक अर्थ में कहे हुए इन चारों विभागों में आपद्धर्म के समय फेरफार हो सकता है। इसी तरह आवश्यकतानुसार एक या एक से अधिक सन्तान भी उत्पन्न की जा सकती है और आपत्ति के समय अहिंसा के स्थान में दुष्ट शत्रुओं का नाश भी किया जा सकता है। इस प्रकार के आपद्धर्म का पालन करने से मनुष्य को मोक्ष के सीधे मार्ग से यद्यपि जरा सा हट जाना पड़ता है, थोड़ा पाप भी होता है और हिंसा भी होती है पर कार्य हो चुकने पर—अड़चनों के हट जाने पर—सुकाल होने पर—फिर शुद्ध धर्म का अनुष्ठान होता है और फिर मोक्ष मार्ग सीधा हो जाता है। क्योंकि आपत्तिकाल दीर्घकाल तक नहीं रहता और न आपत्ति के समय उपभोग किये पदार्थों का

संस्कार ही दृढ़ होता है, इसलिए आपद्धर्म के समय में उपयोग किये हुए व्यवहार शुद्ध धर्म के समय कुछ भी अड़चन पैदा नहीं करते। यही सुनीति और वामनीति का निर्णय है और यही वेदादि शास्त्रों में आये हुए विरोधी वचनों की संगति है।

सुकाल और आपत्काल का फेरा आया ही करता है, इसीलिए शुद्ध धर्म और आपद्धर्म का भी फेरा आया करता है। कहा नहीं जा सकता कि कब कौन सी आपत्ति आ जाय और उससे बचने का क्या उपाय करना पड़े। यही समझ कर आर्यों ने अपनी सभ्यता में आपद्धर्म को विशेष स्थान दिया है। हम कह आये हैं कि जिस प्रकार शुद्ध धर्म आश्रम व्यवस्था की भूमिका पर स्थिर किया गया है, उसी प्रकार आपद्धर्म वर्णव्यवस्था की भूमिका पर निर्मित किया गया है। आश्रम व्यवस्था जब तक स्थिर रहती है तब तक शुद्ध धर्म का व्यवहार होता है और मनुष्य समाज पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं आती। किन्तु आश्रम व्यवस्था के तिरोभाव के साथ ही साथ संसार में आपत्तियों का दौरा शुरू हो जाता है, अतएव आपत्तियों का मुकाबला करने के लिए वर्णव्यवस्था की दरकार होती है।

कहने को तो वर्ण चार हैं, पर वे भी आश्रमों की तरह दो ही हैं। दो वर्ण तो दो प्रधान वर्णों के सहायक हैं। प्रधान वर्णों में ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों की गणना है। जिस समय शुद्ध धर्म का जमाना रहता है, उस समय सब वर्ण ब्राह्मण ही रहते हैं, परन्तु आपत्तियों के आते ही क्षत्रिय वर्ण का आविर्भाव होता है और चारों वर्णों के अपने-अपने व्यवहार आरम्भ हो जाते हैं और जो जिस काम के योग्य होता है, उसको उसी काम में लगा दिया जाता है और आपत्तियों को दूर कर दिया जाता है। इसीलिए वर्णव्यवस्था की तुलना शरीर के साथ की गई है और शिर ब्राह्मण, बाहु क्षत्रिय, पेट वैश्य और पैर शूद्र माना गया है। आपत्तिरहित अवस्था में जिस प्रकार बिना हाथ और पैर का मनुष्य जी सकता है—जिस प्रकार बिना हाथ पैर का सर्प अपनी पूर्ण आयु जी लेता है उसी प्रकार शुद्ध धर्म के समय ब्रह्मपरायण लोग भी जी सकते हैं, किन्तु आपत्ति के समय बिना हाथ पैर के मनुष्य कोई काम नहीं कर सकता। उस समय केवल मस्तिष्क के द्वारा सम्पन्न होने वाले ज्ञान-विज्ञान और योग समाधि से समाज का काम नहीं चलता। इसलिए आपद्धर्म का संरक्षक क्षत्रिय ही माना गया है और आपद्धर्म के समय समस्त प्रजा को क्षात्र-

धर्म में दीक्षित होकर राजा की आज्ञानुसार राष्ट्र के काम का बटवारा करके गुण कर्म स्वभावानुसार अपने अपने कामों में नियुक्त होना ही धर्म ठहराया गया है। ऐसे समय में समस्त समाज राजन्य प्रधान हो जाता है। भारतवर्ष में इस प्रकार के समय आ चुके हैं। महाभारत में लिखा है कि महाभारत के समय द्रोणाचार्यादि ब्राह्मण भी क्षात्रधर्म में ही दीक्षित हुए थे। इसका कारण यही है कि बिना इस प्रकार की सङ्गठित शक्ति के—बिना प्रत्येक व्यक्ति के सहयोग के—आपत्ति टल ही नहीं सकती। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शुद्ध धर्म काल में समस्त समाज ब्राह्मणमय रहता है, ब्राह्मण रीति-नीति का ही व्यवहार होता है और परिव्राट के द्वारा दीक्षित होकर सब मनुष्य आश्रमों में ही स्थिर रहते हैं और मोक्ष साधन में ही लगे रहते हैं, उसीप्रकार आपत्काल में समस्त समाज राजन्य हो जाता है, सर्वत्र राजनीति का ही व्यवहार होने लगता है और सम्राट के द्वारा दीक्षित होकर सब मनुष्य चार वर्णों में विभक्त हो जाते हैं और आपत्ति के हटाने में लग जाते हैं। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि शुद्ध धर्म के समय वर्णों का अभाव हो जाता है और आपद्धर्म के समय आश्रमों का लोप हो जाता है। प्रत्युत यह समझना चाहिये कि दोनों समयों में वर्णाश्रमव्यवस्था के कुछ न कुछ बीजांकुर बने रहते हैं। क्योंकि सुकाल और आपत्काल का फेरा सदैव होता ही रहता है। यही कारण है कि धर्म शास्त्रों में वर्णव्यवस्था के दो प्रकार के प्रमाण मिलते हैं। जिस समय शुद्ध धर्म का व्यवहार होता है और समस्त व्यवहार आश्रम-व्यवस्था के अनुसार ही चलते हैं उस समय सब लोग ब्राह्मण स्वभाव वाले और आश्रमों के रंग में रंगे और मोक्ष मार्ग के पथिक ही रहते हैं। उस समय सब काम धर्मानुसार ही चलता है, कोई आपत्ति नहीं होती इसलिये किसी वर्ण का वास्तविक स्वरूप भी प्रकाशित नहीं होता, प्रत्युत सब वर्ण लुप्त हो जाते हैं। किन्तु जिस समय आपद्धर्म का व्यवहार होता है और समस्त व्यवहार वर्ण-व्यवस्था के अनुसार ही चलते हैं, उस समय वर्णव्यवस्था गुण, कर्म और स्वभावानुसार मानी जाती है और जो जिस काम के योग्य होता है, वह उस काम में लगा दिया जाता है। उस समय मनु भगवान् के आदेशानुसार आवश्यकता पड़ने पर भूतपूर्व आपत्काल के समय में ब्राह्मण कहलानेवाले मनुष्य शूद्र और भूतपूर्व आपत्काल के समय में शूद्र कहलाने वाले लोग ब्राह्मण हो जाते हैं। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्यों के वर्णों में भी अदला बदली हो जाती है।

इसका कारण यही है कि आपत्ति के समय वर्ण धर्म का पालन ठीक-ठीक किया जाता है। इसलिये जो जिस काम को अच्छी तरह कर सकता है, वह उसी काम में लगा दिया जाता है, जिससे काम में त्रुटि न हो और आफत टल जाय। उस समय आपत्ति-निवारण ही उद्देश्य होता है, इसलिए सब लोग अपना-अपना काम भी अलग-अलग करने लगते हैं और आफत टालने के लिये समस्त समाज वर्णों में विभक्त होता हुआ क्षात्रधर्म प्रधान हो जाता है। कहने का मतलब यह है कि ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति हर समय कायम रहती है और आवश्यकतानुसार आपत्काल में स्पष्ट रूप से आविर्भूत हो जाती है। यही आर्यों की नीति का रहस्य है और यही उनकी वर्ण व्यवस्था का आदर्श है। इस आदर्श का वर्णन करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥ (यजु० २०।२५)

अर्थात् जहां ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति साथ-साथ रहती हैं और जहां पांच महायज्ञों का अनुष्ठान कायम रहता है, वही देश पुण्य देश कहलाता है। इन दोनों शक्तियों के सामञ्जस्य से ही देश में–जन समाज में शांति स्थिर रह सकती है। अर्थात् दोनों शक्तियां जब एक दूसरे को सहायता देती हैं तभी लोक परलोक के कार्य सम्पन्न होते हैं। मनु भगवान् कहते हैं कि—

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते॥ (मनु० ६।३२२)

अर्थात् न विना ब्रह्मशक्ति के क्षात्रशक्ति बढ़ सकती है और न विना क्षात्र-शक्ति के ब्रह्मशक्ति बढ़ सकती है, प्रत्युत दोनों के मेल से ही लोक परलोक की उन्नति होती है। यही आर्यों की नीति है और यही वर्ण व्यवस्था की उपयोगिता है। किन्तु इस प्राचीन वर्ण व्यवस्था की वर्तमान दुर्दशा को जानते हुए भी लोग कहते हैं कि आर्यों की वर्ण व्यवस्था किसी काम की नहीं है। वे इसमें तीन दोष बतलाते हैं। वे कहते हैं कि एक तो वर्ण व्यवस्था से सुसंगठित मानव समाज के चार विभाग हो जाते हैं और ऐक्यता नष्ट हो जाती है तथा युद्ध करने वाले थोड़े से क्षत्रिय ही रह जाते हैं, शेष वर्ण युद्ध कला-हीन हो जाते हैं। दूसरे, केवल लड़ने वाली जाति ही का प्रभुत्व हो जाता है और उसी जाति के विशेष व्यक्ति के हाथ से ही मनमाना शासन होता है। तीसरे, प्राचीन क्षत्रियों की रणकलान को [illegible] रणकौशलों

के साथ मुकाबिला ही करने की योग्यता रखती है और न उनके पास वर्तमान योरप की भांति कलायुक्त शस्त्रास्त्र, यान और युद्धोपकरण ही उपस्थित हैं। इसलिये राष्ट्र निर्माण का वह प्राचीन वर्णव्यवस्था का आदर्श इस समय के लिये उपयुक्त नहीं है। यद्यपि सुनने में ये शङ्काएं बड़ी प्रबल प्रतीत होती हैं, पर वर्ण व्यवस्था के यथार्थ स्वरूप पर विचार करने से तीनों शंकाएं बेदम हो जाती हैं। जो लोग कहते हैं कि वर्ण व्यवस्था अनैक्यता उत्पन्न करती है—एक जाति को चार विभागों में बांट देती है वे गलती पर हैं। उनकी यह बात यथार्थ नहीं है।

यह शंका तो वर्तमान अस्त व्यस्त वर्ण व्यवस्था को देखकर उत्पन्न हुई है। पर वास्तविक वर्ण व्यवस्था में इस प्रकार की शंका की गुञ्जायश नहीं है। क्योंकि वास्तविक वर्ण व्यवस्था का प्रादुर्भाव तो आपत्ति से, संकट से, मृत्यु से और दुःख से बचने के लिए ही होता है और सारे राष्ट्र की सम्मति से राष्ट्र का काम चलाने के लिए स्थिर किया जाता है। और जिसकी जैसी योग्यता होती है, वह उसी काम में नियुक्त किया जाता है। अर्थात् वह नियुक्ति गुण, कर्म और स्वभावानुसार होती है। कर्म से आर्यों और दस्युओं का विभाग होता है और स्वभाव से ब्राह्मणों क्षत्रियों और वैश्यों का विभाग होता है। दुष्ट कर्म करनेवाले अनार्य कहलाते हैं। वे चाहे भले ही विद्वान् हों और गुणवान् हों, परन्तु यदि उनका व्यवहार अच्छा नहीं है यदि वे पापी हैं और दुष्ट हैं, तो वे आर्यसमाज में नहीं रह सकते। कर्म की इस कसौटी से दुष्टों को पृथक् करके शुद्ध आर्यों को गुण की कसौटी से दो भागों में बांटा जा सकता है। इन विभागों का नाम द्विज और शूद्र है।

जिन्होंने ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या, सभ्यता और सदाचाररूपी गुणों को धारण किया है, वे द्विज विभाग में समझे जाते हैं और जिन्होंने इन गुणों को धारण नहीं किया, वे शूद्र कहलाते हैं। विद्वान्, गुणवान्, ब्रह्मचारी और सदाचारी ही राष्ट्र का काम चला सकता है, इसलिये द्विजों को ही राष्ट्रके काम में नियुक्त किया जाता है। क्योंकि आपत्ति के समय राष्ट्र को प्रायः तीन प्रकार की जिम्मेदारियों की दरकार रहती है। राष्ट्र चाहता है कि चाहे जितनी आपत्ति आवे, पर बच्चों की शिक्षा का काम बन्द न हो। इसी तरह चाहे जितना संकट उपस्थित हो, पर शत्रु से देश और धर्म की रक्षा की जाय और चाहे जैसा भयंकर समय हो, जीविका का प्रबन्ध शिथिल न होने पावे। इन तीनों प्रकार

के प्रबन्धों के लिये समस्त द्विजों को तीन भागों में बांटकर तीनों प्रकार के कार्यों में लगा दिया जाता है। यह कार्यविभिन्नता द्विजों के स्वभावानुसार की जाती है। जिसकी तबीयत का जैसा झुकाव देखा जाता है, उसको उसी काम में नियुक्त किया जाता है। जो पढ़ाने की ओर विशेष रुचि रखते हैं उनको शिक्षा का काम, जो शूरवीर और निर्भय होते हैं, उनको रक्षा का काम और जो पशुपालन तथा कृषि की ओर रुचि रखते हैं, उनको जीविका का काम दिया जाता है।

इसी तरह जो अशिक्षित (शूद्र) हैं, उनको सेवा का काम दिया जाता है। आपत्ति के समय यदि इस प्रकार से कामों का बटवारा न कर दिया जाय और सारी प्रजा एक ही काम में लगा दी जाय तो कभी स्वप्न में भी रक्षा नहीं हो सकती। सब के सब लड़ने ही लगें तो सेना के लिये युद्धोपकरण--शस्त्र, यान और खाद्य कौन तैयार करे और भविष्य में युवकों को योग्य बनाने के लिये शिक्षा कौन दे ? इसलिये आपत्ति के समय कामों का बटवारा करके राष्ट्र का काम चलाने के लिये एक जाति को चार भागों में बांटना ही पड़ता है। परन्तु इस बटवारे का यह अर्थ नहीं है कि एक विभाग का दूसरे विभाग से कुछ वास्ता ही नहीं रहता। आपत्ति के समय सभी विभाग एकमत होकर आपत्ति को हटाने में जुट जाते हैं। जैसे कि आवश्यकता पड़ने पर द्रोणाचार्य शिक्षा का काम छोड़ कर युद्ध करने लग गये थे। कहने का मतलब यह है कि आपत्ति के समय समस्त जन समाज राजा के अधीन रहकर अपनी योग्यता के अनुसार आवश्यक विभाग का काम करता है, इसलिए इस वर्णव्यवस्था में अनैक्यता और सैनिकों की कभी भी अड़चन नहीं आती।

दूसरी शंका जिसमें राजा के एकहथे राज्य की बात कही जाती है, पर उसमें भी गलती है। आर्यों का राजा कभी अकेला जो कुछ चाहता था, वह नहीं कर सकता था। उसके साथ सदैव विचार करने के लिये एक वेदज्ञ पंडितों की सभा रहा करती थी, जिसकी सलाह से राजा शासन करता था। किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि राजा की तरह यह सभा भी मनमाना कानून नहीं बना सकती थी। यहां नया कानून बनाने का रिवाज ही नहीं था। यहां तो भगवान् का बनाया हुआ कानून वेद, बिना किसी दलील और प्रमाण के चलता था। राजा और राज सभा तो केवल वेदानुकूल व्यवहार चलाने के लिए ही थी, नये कानून बनाने के लिये नहीं। अतएव अकेला राजा अकेला हो

अथवा दश हजार सभ्यों की सभा हो, किसी को नया धर्म, नया कायदा और नया विधान जारी करने का अधिकार नहीं था। उस समय ऐरेगैरों का बहुमत नहीं लिया जाता था। उस समय तो यह कायदा था कि—

एकोऽपि वेद विद्धर्मं यं व्यवस्येत् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥ (मनु० १२।११३)

अर्थात् एक भी वेदज्ञ जिस बात को कहे वही धर्म माना जाय और वेद-हीन दश हजार मनुष्यों की भी बात न मानी जाय। इसका कारण वेदों की अपौरुषेयता ही था। आर्यों के विश्वासानुसार वेद ही ऐसा कानून है, जो ईश्वरीयज्ञान होने के कारण सबको समान रूप से लाभ पहुंचाने वाला है। इसीलिए उन्होंने नये कानूनों को कभी नहीं बनाया। आजकल संसार में जिस प्रकार के बहुमत का रिवाज चल रहा है, वह बहुत ही हानिकारक है। क्योंकि संसार में सभी मनुष्य धर्मात्मा नहीं होते। विशेषकर आपत्ति के समय तो बहुत ही थोड़े आदमी धर्मात्मा और विद्वान् होते हैं। यदि सभी धर्मात्मा और विद्वान् हों, तो बहुमत की—राजसभा की आवश्यकता ही न हो। कानून के पालन कराने की आवश्यकता तो तभी होती है, जब जनसमाज अशिक्षित, अधर्मी और कर्महीन होता है। पर अशिक्षित और अधर्मी समाज का बहुमत भी वैसा ही होता है, जैसी उसकी रुचि होती है। शराब पीने वाले कभी शराब के विरुद्ध अपना मत दे ही नहीं सकते। विलासी, कामलोलुप, स्वार्थी और परोपभोगी कभी अपने स्वार्थ के विरुद्ध अपना मत दे ही नहीं सकते। इसलिये सभी के मत से कानून के बनाने की प्रथा ठीक नहीं है। प्रथा तो वही उत्तम है कि जो प्राचीन वैदिक आर्यों की सभ्यता के अनुसार चलाई जाय।

अब रही तीसरी शंका, उसके उत्तर में निवेदन है कि जिस प्रकार के लोगों के साथ युद्ध करना उचित था, उन लोगों को दमन करने के योग्य प्राचीन आर्यों के पास युद्धोपकरण थे, किन्तु जिस प्रकार के साथ युद्ध करना उचित नहीं था, उनके साथ युद्ध करने योग्य उपकरण भी नहीं थे। आर्य-सभ्यता में युद्ध के लिए स्थान तो है, पर युद्ध की मर्यादा भी है। कब किस के साथ किस प्रकार युद्ध करना चाहिये, ये बातें आर्यों की सभ्यता में विशेष स्थान रखती हैं। क्योंकि आर्य लोग युद्ध का यह मतलब नहीं मानते कि विना सोचे समझे जहां देखो वहीं लड़ मरो। इसलिए युद्ध के विषय में मनु भग-वान् लिखते हैं कि—

अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युद्ध्यमानयोः ।
पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥ (मनु० ७।१९९)
एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।
तानानयेद्वशं सर्वान् सामादिभिरुपक्रमैः ।
यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः ।
दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत् ॥ (मनु० ७।१०७-१०८)

अर्थात् संग्राम में लड़नेवालों के जय और पराजय अनित्य हैं, इसलिए युद्ध न करना चाहिये। सब से पहिले तो विरोधियों को सामादि उपायों से ही वश में करना चाहिये, पर यदि सामादि तीनों उपायों से शत्रु न माने तो दण्ड (युद्ध) से ही वश में करना चाहिये। इन प्रमाणों से पाया जाता है कि युद्ध कोई बहुत आवश्यक वस्तु नहीं है। यह तो उन मूर्खों, जंगली बर्बरों और अत्याचारियों को वश में करने के लिए है, जो न ज्ञान जानते हैं न विज्ञान, न नति जानते हैं न धर्म और न हानि जानते हैं न लाभ, प्रत्युत लोगों को सताना ही जिनका उद्देश्य है। परन्तु युद्ध उनके लिए नहीं है जो हर बात को अच्छी तरह समझते हैं। यही कारण है कि आर्यों ने सदैव बर्बरों के ही साथ युद्ध किया है और उनको ही परास्त किया है। रावण से लेकर सिकन्दर, गोरी, ग़ज़नी और औरंगज़ेब तक के साथ आर्य लोग युद्ध करते रहे हैं और सबको परास्त किया है। यद्यपि मुसलमानों को परास्त करने में उनको चार सौ वर्ष लगे हैं, तथापि अन्त में उन्होंने उनको भी परास्त ही कर दिया है। रहे योरपवासी, सो ये आरम्भ में व्यापारिक रूप से यहां आये और धीरे-धीरे देश के स्वामी बन गये, अतः इनके साथ युद्ध करने का अच्छी तरह मौका ही नहीं आया।

इन्होंने आरम्भ से ही अपनी सभ्यता, प्रबन्ध, ज्ञान, विज्ञान और कला-कौशल का हम पर ऐसा सिक्का जमाया कि हमने कभी इनको अपना शत्रु ही नहीं समझा। शत्रु न समझने का कारण यह था, कि ये बर्बर नहीं, किन्तु सभ्य और उदात्त विचारवाले थे। आर्यों का विश्वास था, कि ऐसे लोगों से अधिक ख़तरा नहीं है। आर्यों का यह अनुमान ग़लत नहीं था। इनके अनुमान के प्रमाण समय-समय पर मिलते रहे हैं और विशेष रूप से इस समय मिल रहे हैं। आज समस्त संसार में जो साम्यवाद की चरचा फैल रही है, जर्मनयुद्ध के समय से जो अब कोई देश किसी दूसरे देश पर अधिकार करने

के लिए प्रयास नहीं करता, इंगलैंड के अनेक मातहत देश जो धीरे-धीरे स्वतन्त्र हो रहे हैं और भारतवर्ष में भी जो स्वतन्त्रता का शंखनाद चारों तरफ बज रहा है, इस समय संसार व्यापिनी स्वतन्त्रता के जन्मदाता कौन हैं ? हम हैं, या चीनवाले हैं, या अमरीकावाले हैं, या अफ़ग़ानिस्तान के पठान हैं ? हमारी समझ में तो इनमें से कोई नहीं हैं। इसका यदि किसी को श्रेय है. तो वह केवल योरपनिवासिनी जातियों को ही है। उन्होंने ही इस सार्वभौम स्वतन्त्रता का सिंहनाद किया है।

अतएव इस प्रकार की स्वतन्त्रताप्रिय, विद्याव्यसनी और उच्च विचारवाली जातियों के साथ युद्ध करने के लिए आर्य लोग कैसे तैयारी करते ? जिन जातियों ने आरम्भ से ही अपनी उर्वराशक्ति के द्वारा हर्बर्ट स्पेंसर, लेनिन और ऐसे ही अनेकों महान् पुरुषों को जन्म दिया है, जिन जातियों के लाखों आदमी आज विश्वस्वातन्त्र्य का प्रयत्न कर रहे हैं और जिन जातियों ने संसार को अमित विद्याभण्डार का दान दिया है, उन जातियों के साथ युद्ध की तैयारी करना आर्यस्वभाव के विपरीत है। वे तो धीरे-धीरे उन्हीं बातों की ओर आ रही हैं, जो बिलकुल ही आर्य सभ्यता के अनुकूल हैं। इसलिये योरपवासियों के साथ अथवा इसी प्रकार की उन्नत सभ्यता प्राप्त किसी भी जाति के साथ आर्य लोग युद्ध नहीं करते। यही कारण है कि यहां कलायुक्त यन्त्रों का भी आविष्कार नहीं किया गया। यहां वालों को विश्वास था कि जो जातियां ज्ञानविज्ञान में इतनी उच्च और उन्नत होंगी, उनसे हमें अधिक हानि न होगी। आर्यों की ऐसी समझ और धारणा को राजनैतिक गलती नहीं कहा जा सकता। आर्यों की सी उच्च सभ्यता में पहुँचकर कोई भी मनुष्य जाति, चाहे वह पहिले कितनी ही बर्बर रही हो, इसी परिणाम पर पहुंचती है। योरप के विकसित मस्तिष्क भी आज इसी परिणाम पर पहुँचे हैं। वहां भी युद्धों को बन्द कराने और संसार से कुटिलता की जड़ खोद बहानेवाले लाखों आदमी पैदा हो गये हैं।

तारीख २३ मई सन् १९२५ के 'वर्तमान' पत्र में छपा था कि 'अपनी मृत्यु से पहिले १० दिसम्बर सन् १९१० ई० में महात्मा टालसटाय ने एक पत्र लिखा था कि अन्धकार की वह दशा जिसमें मानवजाति डूबी जा रही है और भी भयंकर हो जाती, यदि सैकड़ों मनुष्य अपने जीवन को खतरे में डालकर उसके रोकने का प्रयत्न न करते। अधिकारियों की ओर से उनको हर प्रका

के दण्ड दिये जाने का भय दिखाया गया, परन्तु वे तिल भर नहीं डिगे। वे स्वतन्त्र रहने के इच्छुक हैं, इसलिए वे अधिकारियों की आज्ञाओं का पालन नहीं करते, वरन् वे अपनी आत्मा की आवाज पर अमल करते हैं। मैं मरने के निकट हूँ, परन्तु मैं यह देखकर प्रसन्न हूं कि उन मनुष्यों की संख्या बढ़ती जा रही है, जो अधिकारियों की ओर से मानव जाति के संहारक पद दिये जाने पर भी शान्ति के साथ इन्कार कर देते हैं और अवज्ञा करने का दण्ड स्वयं भोग लेते हैं। रूस में ऐसे युवक बहुत हैं, जो जेल की भयंकर यातनाएँ भोग रहे हैं। उन्होंने अपने पत्रों में लिखा है तथा मिलनेवालों से बतलाया है कि वे जेल में बड़ी शान्ति से हैं।

'केवल रूस में ही नहीं वरन् महायुद्ध के समय सन् १६१५ में हालैंड में भी एक संस्था युद्ध रोकने के उद्देश्य से स्थापित की गई थी। उसने एक घोषणापत्र भी निकाला था। उस समय उसके सञ्चालक गिरफ्तार कर लिये थे, परन्तु अब हालैंड सरकार ने उसके प्रकाशन तथा उसकी एक लाख प्रतियां वितरण करने की आज्ञा दे दी है। घोषणापत्र का आशय इस प्रकार है'— हम युद्धनीति के विरोधी स्त्री पुरुष देख रहे हैं कि लोगों में शान्ति की भावना बढ़ रही है, और जो लोग सोल्जर नहीं बनना चाहते, उनकी संख्या शनैः शनैः निरन्तर वृद्धि करती जा रही है। अतः दृढ़ता के साथ घोषित करते हैं कि हमने निश्चय कर लिया है कि हम हर प्रकार की फौजी नौकरी करने से इन-कार करते हैं। केवल बारक—रूमों, ट्रेंको, युद्धसैनिकों, और हवाई-जहाजों की सर्विस से ही हम इनकार नहीं करते, वरन् युद्धसामग्री बनाने वाले समस्त कारखानों और ट्रांसपोर्ट के डीपुओं से भी अपनी पृथक्ता प्रकट करते हैं। सारांश यह कि कोई भी ऐसा कार्य जो युद्ध की तैयारी के सम्बन्ध में होगा, हम लोग उसमें भाग न लेंगे। हम यथा संभव युद्ध के लिये एकत्र होने वाली सेनाओं को भी इकट्ठे होने से रोकेंगे। जो बन्धु युद्ध बन्द करने के पक्षपाती हों, वे हम में सम्मिलित हों और जब युद्धप्रारम्भ हो, तो उसके बन्द कराने का प्रयत्न करें। इस संस्था की ओर से एक पत्र भी निकलता है, जो सदैव युद्ध के विरुद्ध प्रचार किया करता है। अमेरिकन महिलाओं ने भी अपने देश में इसी उद्देश्य से एक संस्था खोली है।

इतना ही नहीं किन्तु योरपवासियों की सभ्यता इतनी उच्चता को पहुंचती जाती है कि अब उनके वैज्ञानिक खुद ही वैज्ञानिक युद्धोपकरणों को तैयार

करने के लिए रजामन्द नहीं है। तारीख १० दिसम्बर सन् १९२१ के 'आदर्श' पत्र में लिखा है कि 'ईटन नगर के प्रसिद्ध अध्यापक डाक्टर लिटिल्स्टन ने कहा था कि साल भर पूर्व युद्धविभाग (War Office) ने दो बड़े वैज्ञानिकों को लिखा था कि वे एक ऐसी जहरीली गैस तैयार करें जो आधे मिनट में एक पूरे नगर को नष्ट कर दे। परन्तु दोनों विद्वानों ने यह जवाब दिया कि हम ऐसी विद्या का इस प्रकार दुरुपयोग नहीं कर सकते।' योरप के वैज्ञानिकों में अब अधिकांश ऐसे विद्वान् हैं जो युद्धों को पसंद नहीं करते। वे नहीं चाहते कि विज्ञान के द्वारा विज्ञान-वादियों का नाश किया जाय। इस बात का प्रमाण उस पत्र से मिलता है जो जर्मन युद्ध के बाद इंगलैंड की ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी के प्रोफेसर, डाक्टरों और अन्य विद्वानों ने जर्मनी के विद्वानों को लिखा था। सन् १९२० में हिन्दोस्तान पत्र में छपा था कि 'ब्रिटिश विद्वानों ने जर्मनी के विद्वानों को पत्र लिखा है कि 'हे जर्मनी और आस्ट्रिया के वैज्ञानिको! रासायनिको! और अन्य विद्वानो! गत युद्ध के कारण थोड़े समय के लिये हम लोगों की मैत्री भङ्ग हो गई थी जिसके लिये हमें खेद है और हम जानते हैं कि आप लोगों को भी खेद हुए विना न रहा होगा।

'हम आशा करते हैं कि पुरानी मैत्री को फिर से जोड़ने का प्रबन्ध दोनों ओर के विद्वान् करेंगे। युद्ध के समय स्वदेशाभिमान के कारण जो कुछ वैर-बुद्धि उत्पन्न हो गई है, उसको जल्दी ही परित्याग करने की आवश्यकता है। युद्ध के समय हम लोगों का ध्यान एक दूसरे की विरुद्ध दिशाओं में था, पर अब दोनों पक्षों के बीच विद्वानों का साज एक ही समान होने से सुलह असंभव नहीं है। आध्यात्मिक शक्तियों को ध्यान में रखकर एक अथवा एक से अधिक जातियों की उचित पहिचान करने में हम लोगों को देर न करनी चाहिये। राजनैतिक मतभेद संसार की पृथक्-पृथक् जातियों के बीच में विक्षेप कर रहा है, ऐसी दशा में हमको जिस संस्कृति की आवश्यकता है, उस मैत्रीभाव की संस्कृति की स्थापना के लिए जो कुछ बन पड़े वह शीघ्र करना चाहिये।' इस पत्र से स्पष्ट हो रहा है कि युद्ध से विद्वानों को कष्ट हुआ था, अतः वे मैत्री की संस्कृति को अब मजबूत करना चाहते हैं, जिससे भविष्य में फिर युद्ध न हो। यह पत्र इंगलैंड के निवासियों का है। इंगलैंडनिवासियों को लोग संसार भर से अधिक पतित समझते हैं, किन्तु यहां के विद्वान् भी वैज्ञानिक युद्धों को अच्छा नहीं समझते। इतना ही नहीं प्रत्युत इंगलैंड में तो इतने अच्छे आदमी

उत्पन्न हो गये हैं कि वे अपनी जाति के दुष्ट मनुष्यों से बचने के लिए दू
देश के निवासियों को सचेत करने में भी नहीं चूकते।

एक बार जापान के मास्कुइस इटो ने हर्बर्ट स्पेंसर से जापान की रक्षा
लिए कुछ प्रश्न पूछे थे। स्पेंसर ने रक्षा के अनेक उपाय बतलाते हुए यह
लिखा था कि 'जापान में अंगरेज अथवा किसी भी विदेशी को बसने का अधि
कार न देना।' कितना स्पष्ट सत्य है। इसीलिए हम कहते हैं कि जिन जाति
की सभ्यता का विकास इस प्रकार हो चुकता है वे युद्धों से, वैज्ञानिक युद्धोपकर
से और हर प्रकार की कुटिलता से धीरे-धीरे पृथक् हो जाती हैं। अत
विज्ञानकुशल जातियों के साथ वैज्ञानिक युद्धों की तैयारी करना राजनैतिक
है और आर्यों के पास कलायुक्त युद्धोपकरणों के अभाव के कारण वर्णव्यव
को निकम्मी बतलाना उससे भी अधिक भूल है। क्योंकि सभ्य जातियों के स
आर्यों ने सदैव वैदिक विचारों और आर्यआचारों के ही द्वारा युद्ध किया है
वैदिक विचारों तथा आर्यआचारों से ही उन्हें परास्त किया है। इस प्रका
युद्ध पूर्व समय में हुए हैं। पूर्वकाल में यहां के ऋषियों ने अमेरिका, आस
लिया, पेलिस्टाइन, मिश्र और ईरान में अपनी सभ्यता और आचार का प्र
करके वहां की प्रजा को पराजित किया है। यही कारण है कि आर्यसभ्यता
आदिम राजनीतिज्ञ मनु भगवान् कहते हैं कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ (मनु० २।

अर्थात् ब्रह्मावर्त के ब्राह्मणों से समस्त संसार के मनुष्य सदाचार की शि
प्राप्त करें। प्राचीन आर्य ऋषि अपनी इसी वैदिक शिक्षा-सदाचार-से सं
की समस्त जातियों को अपना शिष्य बनाकर उन पर अपना प्रभाव जमाते
आज भी वैदिक विचारों को प्रचारों के द्वारा और आर्यआचारों को अपने
और तपस्वी व्यवहारों के द्वारा हम दूसरी सभ्य जातियों तक पहुंचा सक
और उन्हें प्रभावित कर सकते हैं। ऐसा करना हमारी सभ्यता का एक
अङ्ग है। आज यदि हम आर्यभोजन, आर्यवस्त्र, आर्यगृह और आर्यगृहस्
साथ अपना निर्वाह करने लगें और शृङ्गार, विलास तथा कामुकता को छो
तपस्वी बन जायं और देशदेशान्तरों में जाकर अपने आचार का नमूना दिख
हुए वैदिक विज्ञान का प्रचार करें, तो सभ्य जातियां हमारी सभ्यता को स्वी
करलें और अनायास ही पराजित हो जायं और [illegible] नष्ट हो जाय,